

हरियाणवी काव्यरूप 'रागनी' का उद्भव और विकास

डॉ० राजेन्द्र गौतम,

सह समन्वयक

जीवन पर्यन्त शिक्षण संस्थान,

दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली-110007

E-mail: rajendragautam99@yahoo.com

हरियाणवी साहित्य का व्यापक अध्ययन-विश्लेषण बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध से ही आरंभ हो गया था। इसके बावजूद इसके प्रमुख घटक रागनी-काव्य का सम्यक् मूल्यांकन नहीं हो पाया है। हरियाणवी साहित्य के आलोचकों ने तत्समता के मोह में प्रायः 'रागिनी' शब्द का प्रयोग किया है पर जैसा कि आगे स्पष्ट होगा हरियाणवी काव्य के संदर्भ में 'रागनी' शब्द का एक विशिष्ट पारिभाषिक अर्थ है जो संस्कृत 'रागिनी' शब्द से अंतर रखता है। इसीलिए हमने यहाँ विशेष पारिभाषिकता से संपन्न 'रागनी' शब्द का प्रयोग ही उचित समझा है।

रागनी-काव्य का एक बड़ा अंश हरियाणवी साहित्य की प्रमुख नाट्य-विधा सांग में उपलब्ध होता है। कुछ नायक एवं नायिकाओं से जुड़ी लोकगाथाएँ कई बार इतनी लोकप्रिय हो जाती हैं कि वे उनके नामों से ही जानी जाने लगती हैं। 'आल्हा' इसका एक प्रसिद्ध उदाहरण है। यही कारण है कि हरियाणवी सांगों को 'नौटंकी' से अभिन्न मानने की भी एक परम्परा है। इन्हें 'सांगीत' भी कहा गया है। एक अन्य प्रसिद्ध नायिका 'सोरठ' के नाम से इस विधा को कई बार सोरठ भी कहा गया है। हरियाणवी सांगों के प्रस्तुति-पक्ष का इतिहास तो कई शोधकर्त्ताओं ने विस्तारपूर्वक लिखा है पर इसके काव्य-घटक रागनी का क्रमिक इतिहास-लेखन और उसके काव्य-वैभव का मूल्यांकन अब तक नहीं के बराबर हुआ है। शिक्षित समुदाय तो लम्बे समय तक रागनी को अश्लील गायन ही मानता रहा। दूसरी ओर कई समीक्षक इसे लोकगीत मात्र बतलाते रहे हैं। ये भ्रांतियाँ जन-साधारण में ही नहीं रही हैं, अपितु अधिकतर शोधकर्त्ता भी इनके शिकार हुए हैं। रोचक यह है कि इन दोनों भ्रांतियों के बीज हरियाणवी काव्य पर हुए शोधकार्य के पुरोधा डॉ० शंकरदयाल यादव के कथनों में ही मिल जाते हैं। उनका शोधकार्य 1950-51 में शुरु हुआ था। डॉ० यादव के अनुसार सांगी ('सांग' का रचयिता) का गीत प्रेम और यौवन से ऊपर नहीं उठता। वे मानते हैं कि 'पुरंजन-पुरंजनी' (पं० लखमीचन्द), 'शीला सेठानी' (पं० नेतराम) तथा

हरिश्चन्द्र (सरूपचंद) सांगों को छोड़ कर शेष सभी सांग 'नग्न शृंगार की मंजूषा' हैं। उनके अनुसार इन सांगों में इतना खुला शृंगारिक एवं विलासितामय वर्णन होने लगा है कि लज्जा भी लजा जाती है।¹ कहा जा चुका है कि रागनी हरियाणवी सांगों का प्रमुखतम घटक है, अधिकतर सांगों का तो प्रामाणिक अंश भी वही है। अतः डॉ० यादव का सांग-विषयक मंतव्य उनके रागनी-विषयक मंतव्य का भी व्यंजक है। यह सही है कि लंबे समय से मेले-ठेलों में अश्लील रागनियों का भी प्रचलन रहा है और गत तीन दशकों से इलैक्ट्रॉनिक मीडिया में भी द्वयर्थक अश्लील रागनियों का ही बाजार गर्म है लेकिन इस आधार पर रागनी विधा को ही अश्लील घोषित नहीं किया जा सकता। पटरी पर पिन लगी बहुत-सी पुस्तकें उपन्यास के नाम से बिकती हैं। क्या इससे प्रेमचंद के उपन्यास भी उन्हीं की कोटि में चले जाएंगे?

रागनी को लोकगीत मानना भी एक भ्रान्त स्थापना है। डॉ० यादव मानते हैं कि 'रागनी एक लोक गीत है, जो कुछ पंक्तियों में समाप्त हो जाता है'।² 'हरियाणा-संवाद' के 1 सितम्बर, 1980 के अंक में प्रकाशित अपने लेख 'हरियाणवी रागनी काव्य के मूल्यांकन की समस्याएँ' में हमने रागनी को लोकगीत मानने की भ्रान्ति के निवारण का प्रयास किया है। डॉ० यादव का हरियाणवी लोक-साहित्य में ऐतिहासिक योगदान है परन्तु निष्पक्ष अध्ययन के आधार पर कहा जा सकता है कि **हरियाणवी रागनी के संबंध में उनकी उपर्युक्त दोनों धारणाएँ सही नहीं हैं और ये इसके अध्ययन को दिग्भ्रमित करती हैं।**

रागनी का अर्थ

रागनी संज्ञा का प्रयोग दीर्घकाल तक बहुत लचीलेपन के साथ अनेक संदर्भों एवं अनेक रूपों में होता रहा है। हरियाणवी में प्रचलित यह शब्द रागिनी का तद्भव रूप है। हरियाणवी में इसका 'रागणी' रूप भी मिलता है। रागनी के अर्थ को जानने के लिए हमें तत्सम 'रागिनी' का

¹ (क) डॉ० शंकरदयाल यादव, 'हरियाणा प्रदेश का लोक-साहित्य' पृ० 387

(ख) वही, पृ० 392

² (क) वही, पृ० 270

(ख) 'भाषा विभाग हरियाणा' की वर्ष 1977-78 की 'वार्षिक लेखक-गोष्ठी' में हरियाणवी साहित्य के अनेक विद्वानों के साथ प्रस्तुत लेखक ने भी भाग लिया था। उसमें भी यादव जी तथा कई अन्य लेखकों ने रागिनी को लोकगीत के रूप में स्थापित किया था। श्री राजाराम शास्त्री और प्रस्तुत लेखक ने इसका प्रतिवाद किया था।

अर्थ जानना होगा। 'संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ' के अनुसार रागिनी शब्द की व्युत्पत्ति रज् धातु से हुई है। इस कोश के अनुसार '(रज्+घिनुण्' वा 'रागो स्य अस्ति', राग+इनि'। इस प्रकार रागिनि में डीप् प्रत्यय लगने से रागिनी शब्द बना है। 'नालन्दा शब्द सागर' में रागिनी के 'गान-भेद, संगीत में किसी राग की पत्नी, जयश्री नाम की लक्ष्मी, विदग्धा स्त्री और मेना की बड़ी कन्या' - ये पाँच अर्थ दिए गए हैं। स्पष्टतः हमारा सम्बन्ध प्रथम दो से ही है। राग एवं रागिनियों का सम्बन्ध हरियाणवी कवि शंकरदास ने अपनी 'होली' में यों दिखलाया है:

होली सुण कै अर्थ लगा रे

तीस रागिनी छः रागों की हमें बताओ उतपत्ती

सप्त सुरों के जीवन में बसणा इक्कीस मूर्छन शुभ मती

राग से उत्पन्न रागिनी शब्द संगीतमय आलाप का व्यंजक रहा अवश्य है पर हरियाणवी काव्य में रागिनी के रूप में आरंभ से ही इसका अर्थ 'गीतिमय काव्य-रूप' लिया जाता रहा है।¹ डॉ० हरिश्चन्द्र बन्धु ने स्पष्ट किया है कि "रागिनी राग शब्द का स्त्रीलिंग रूप है। संगीत-शास्त्र के अनुसार समस्त गायन-कला का विकास भैरव, मालकोस, दीपक, मेघ, हिंडोला और श्री - इन छः रागों से हुआ है। संगीत-शास्त्र में रागिनी संगीतमय आलाप का अर्थ देती है। लोक में मूलतः इसी अर्थ का ग्रहण है, परन्तु एक काव्य-रूप के संदर्भ में हरियाणवी कवि ने उसे एक अतिरिक्त अर्थ भी प्रदान किया है। मूल अर्थ में रागिनी निश्चित संख्या के विभिन्न सरगमों में बंधे अनिश्चित संख्या के अक्षरों एवं मात्राओं से निर्मित 'बोलों'² का आलाप है।"³

लोक-प्रचलन और अर्थ-वैशिष्ट्य के आधार पर हम यहाँ 'रागिनी' शब्द का ही प्रयोग कर रहे हैं पर उद्धरणादि में 'रागिनी' का प्रयोग भी इसी अर्थ में हुआ है।

रागिनी का स्वरूप

रागिनी के स्वरूप की व्याख्या इसके स्थिरीकृत रूप के आधार पर करना ही उचित है। रागिनी एक गीत-रचना है। यह संदर्भ-विनिर्मुक्त रूप में स्वतः पूर्ण भी हो सकती है और किसी

¹ "सांगीत में रागिनी शब्द उस गीत के लिए आता है, जिसकी धुन मूलतः तो किसी जनपद की मिट्टी से उपजती है; परन्तु बाद में गायक मंच पर अपने कंठ की गमक से अपने शब्दों में मंचीय रूप देकर प्रस्तुत करते हैं।"

-- श्रीराम नारायण अग्रवाल, सांगीत : एक लोक-नाट्य परम्परा, पृ० 224

² काव्य में प्रयुक्त चरण का हरियाणवी पर्याय 'बोल' है।

³ डॉ० हरिश्चन्द्र बन्धु, श्री लखमीचन्द्र का काव्य-वैभव, पृ० 146

प्रबंधाख्यान की भावपूर्ण प्रस्तुति का माध्यम भी। परन्तु प्रबंधांश होने की स्थिति में भी इसका एक निश्चित आद्यन्त स्वरूप है। बीसवीं शताब्दी से पूर्व गौण रूप में और बीसवीं शताब्दी से अब तक मुख्य रूप से यह सांगों का संरचनात्मक ढाँचा तैयार करती रही है। रागनी की रचना सांगों से अलग स्वतन्त्र रूप में तो हुई ही है, सांगों में अन्तर्भुक्त रागनियाँ निरन्तर स्वतन्त्र आस्वादन का विषय भी रही हैं। डॉ० पूर्णचन्द शर्मा ने रागनी को एक छन्द कहा है¹ पर यह सही और तर्कसंगत नहीं है। रागनी को छन्द कहने की एक रूढ़ि रही जरूर है पर वस्तुतः रागनी एक काव्य-रूप है। इसमें ताटक, सार, चौपाई आदि अनेक छन्दों का प्रयोग तो है पर स्वयं में यह कोई एक निश्चित छन्द नहीं है। कुछ कवियों ने एक या दो विशिष्ट छन्दों में का ही प्रयोग रागनी में किया है, परन्तु वे ही छन्द समूचे रागनी-काव्य में व्यवहृत नहीं हुए हैं। शायद 'सांग राजा रत्नसेन का' की रागनियों में कुछ विशिष्ट छन्दों का ही प्रयोग पाकर पं० स्थाणुदत्त जी ने भी रागनी को छंद कहा है।² रागनी को छंद मानने की परिपाटी का कारण यह है कि काव्य-रूप और छन्द का घनिष्ठ सम्बन्ध है। कुछ छन्द तो काव्य-रूप का ही पद पा लेते हैं। यथा -- हरियाणवी में दोहा और सवैया। यहाँ तक कि अनेक ऐसे पद जिन में पिंगलानुसार दोहा और सवैया नहीं हैं, उन्हें भी अपने विशिष्ट मुक्त ढाँचे के अंतर्गत हरियाणवी कवियों ने दोहा और सवैया कहा है। हरियाणवी रागनियों का छन्द-विधान लोकपरक है। काव्य-रूप और छन्द की यह मिश्रित एवं अस्पष्ट विभाजन की स्थिति सन् 1800 से लेकर 1920 तक के हरियाणवी काव्य में चौबोला, कड़ा, बारहमासा, मुखताल, दौड़, काफिया, टप्पा, झूलना, ख्याल, लावनी, झड़ी, रागनी आदि में मिलती है। ऐसा मिश्रण लोकपरक काव्य में स्वाभाविक है। निस्संदेह हरियाणवी रागनी-काव्य का छंद-विधान लोकपरक है।

रागनी की संरचना

बीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण में रागनी ने जो शैल्पिक परिपक्वता अर्जित की है, उसी के आधार पर रागनी के बहिरंग का निर्धारण करना उचित है और इस आधार पर रागनी के तीन प्रमुख घटक हैं - टेक, कली और तोड़। यहाँ एक रोचक तथ्य हमारे सामने आता है। मध्यकालीन हिन्दी काव्य में गीत-रचना पद शैली में ही हुई है। खड़ी बोली के आगमन एवं छायावाद के साथ

¹ 'रागिनी हरियाणा के सांगों का सर्वाधिक मनमोहक और लोकप्रिय छंद है।'

-- लखमीचंद ग्रंथावली पृ० 90

² 'सांग राजा रत्नसेन का', सम्पादक : पण्डित स्थाणुदत्त शर्मा, पृ० 3, 9

तोड़ :

कूण करै खाणे-पीणे की
क्यूँ बहू बणी मुझ हीणे की
मरज्याणी तरे मरणे-जीणे की
आड़ै क्यूँकर खबर पटै।

रागनी का उद्भव

रागनी हरियाणवी काव्य का विशिष्ट अभिव्यक्ति-रूप है। मध्यकाल में हिंदी क्षेत्र में ब्रज और अवधी को काव्य-भाषा के रूप में अधिक स्वीकृति मिली है तथापि हरियाणवी में काव्य-रचना के प्रमाण तो दसवीं शताब्दी से ही उपलब्ध होते हैं। खुसरो ने पानीपत के आसपास की जिस भाषा देहलवी कहा वह हरियाणवी का ही एक रूप है। प्रो. मंजूर एहतमशाम¹ और प्रो. गोपीचंद्र नारंग जैसे विद्वानों ने ग्यारहवीं से पंद्रहवीं शताब्दी के बीच खड़ी बोली और उर्दू के विकास में 'हरियाणी' (हरियाणवी का ही दूसरा नाम) का महत्त्वपूर्ण योगदान स्वीकार किया है। प्रो. नारंग ने इस काल में हरियाणवी के अस्तित्व को स्थापित करते हुए लिखा है- "भाषावैज्ञानिक अनुसंधानों के संदर्भ में यह बात अब निश्चित रूप से जान ली गई है कि उस समय हरियाणा, दिल्ली और पश्चिमी उत्तरप्रदेश में शौरसेनी अपभ्रंश की प्रधानता थी।... निश्चय ही प्रत्येक अपभ्रंश में गौण प्रादेशिक विशेषताएँ भी विद्यमान रही होंगी जिन्होंने संबंधित प्रदेशों की बोलियों को जन्म दिया होगा। जब हमें भली प्रकार विदित है कि ब्रजभाषा की परम्परा अकबर से भी पहले की है... यही स्थिति दिल्ली और उसके आसपास की बोलियों की भी होगी जिन्हें आगे चल कर खड़ी बोली और हरियाणी के नाम से अभिहित किया गया।² वह बात दूसरी है कि मध्यकाल तक हरियाणवी में रची गई साहित्यिक सामग्री की उपलब्धता अब अत्यल्प है। दूसरे, 20वीं शताब्दी तक जहाँ तुलनात्मक रूप में रागनी से इतर काव्य-रूपों का प्रयोग हरियाणवी काव्य में हुआ है, वहाँ सत्रहवीं शताब्दी तक रागनी की उपस्थिति के चिह्न प्रायः प्राप्त ही नहीं होते। सांगों के विकास के संदर्भ में पण्डित मांगेराम की एक बहु-उद्धृत रागनी यह तो प्रमाणित करती है कि हरियाणवी सांगों का इतिहास आज से लगभग 250 वर्ष पुराना है पर रागनी का इतिहास भी इतना ही पुराना है, यह इससे प्रमाणित नहीं होता, क्योंकि साँग की प्रस्तुति लम्बे समय तक दोहा, कड़ा, चौबोला, काफिया आदि के माध्यम से होती रही है। हाँ, वेशभूषा एवं अभिनय पर की गई टिप्पणियों के अतिरिक्त इसमें गौणतः रागनी के विकास पर

1 उर्दू साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ. 9

2 अमीर खुसरो का हिंदवी काव्य, पृ. 21-22

टिप्पणी की गई है। इसके अनुसार दीपचन्द के काल में (सन् 1900 के आसपास) 'चौमोलों को भूलने एवं न्यारे छन्द को अपनाने' की चर्चा है। उस न्यारे छन्द को काफिया कहा गया है और दीपचन्द के बाद आने वाली हरदेवा-बाजे की पीढ़ी द्वारा 'तीन काफिये छोड़कर इकहरी रागनी' को अपनाने की बात कही गई है।

श्री मांगेराम की पूर्वोक्त रागनी के अतिरिक्त हरियाणवी साहित्य के अध्येताओं एवं शोधकर्त्ताओं ने भी रागनी के उद्भव के विषय में टिप्पणियाँ की हैं। डॉ० शंकरलाल यादव पण्डित लखमीचन्द को रागनी का जन्मदाता मानते हैं।¹ रागनी के वर्तमान रूप के जनक का गौरव श्री रामनारायण अग्रवाल ने भी लखमीचन्द को ही दिया है² जबकि सांग के परिप्रेक्ष्य में कई सांगियों ने दीपचन्द को इसका आदि प्रयोक्ता माना है।³ उधर श्री देवीशंकर प्रभाकर ने हरदेवा को रागनी को प्रथमतः मंच पर लाने का श्रेय दिया। उनका कथन है: "हरदेवा ने अपने गुरु दीपचन्द की जहाँ चौबोला शैली को निबाहा, वहाँ पहली बार रागनी को मंच पर लाने का श्रेय इन्हीं को जाता है। आगे चल कर रागनी और 'ख्याल शैली' का प्रयोग उनके समकालीन बाजे भगत तथा अन्य लोक गायकों ने भी किया।"⁴

रागनी के इतिहास से जुड़ी इन टिप्पणियों का एक ही पक्ष मान्य है कि सांग में रागनी के प्रयोग का प्रचलन दीपचन्द एवं लखमीचन्द के युग में विशेष रूप से हुआ है, परन्तु निःसंदेह ये कवि रागनी के जन्मदाता नहीं हैं और इनका ऐसा दावा भी नहीं है। रागनी का अस्तित्व इनसे बहुत पहले से था। आर.सी. टेम्पल ने 'दी लिजेंड्स ऑफ पंजाब' में जिन साँगों का संग्रह किया है, उनमें रागिनियाँ भी बीच-बीच में गीत रूप में विद्यमान रही हैं। इससे प्रमाणित होता है कि अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में किशनलाल भाट,

¹ जहाँ पं० लखमीचंद ने रागिनी को जन्म दिया, उसमें वैशिष्ट्य भरा, वहाँ वे उसे अलंकृत करने से भी नहीं चूके। - डॉ० शंकरलाल यादव, 'हरियाणा प्रदेश का लोक-साहित्य' पृ० 404

² श्री रामनारायण अग्रवाल, सांगीतः एक लोक-नाट्य परम्परा, पृ० 122

³ सप्तसिंधु, अक्टूबर-नवम्बर 1968, पृ० 56

⁴ डॉ० हरिश्चन्द्र बंधु ने 1978-79 में 95 वर्षीय सांगी छोटलाल धोबी से लिए गए एक साक्षात्कार का उल्लेख किया है, जिसमें छोटलाल ने बतलाया था कि शुरू-शुरू में दो-दो बोल की जो रागिनियाँ उन्होंने (दीपचन्द ने) घड़-घड़ कर गाईं, वे लोगों को बहुत मीठी लगीं और उनकी माँग बढ़ गई। लोगों की इस पसंद के कारण और अपनी प्रसिद्धि के लिए दादा दीपचन्द ने अपने सांगों में रागिनियों की गिनती बढ़ा दी। -- डॉ० हरिश्चन्द्र बंधु, 'श्री लखमीचंद का काव्य-वैभव', पृ० 148

बंसीलाल, अम्बाराम तथा अन्य सांगियों ने भी कुछ रागनियों की रचना की है। भले ही इन सोगों में अन्य रूपों की तुलना में रागनियों की संख्या कम हो पर सन् 1700 से सन् 1850 तक सांगों की अति समृद्ध मौखिक परम्परा रही है। सन् 1992 में कैलिफोर्निया यूनिवर्सिटी से बर्कले की सुश्री कैथीन हन्सेन की एक पुस्तक 'Ground For Play : Nautanki Theatre of North India' प्रकाशित हुई है। इस पुस्तक की लेखक ने 1984 से 1987 तक भारत में रह कर शोध करते हुए और साथ ही 'Indian Office London' तथा 'British Museum Library' से तथ्य जुटाते हुए 'सांगीत' एवं 'नौटंकी' के संबंध में कई बहुत महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ दी हैं। उनका कथन है:

“From the inception of British collection of vernacular works in 1867, two types of North Indian folk drama occur in large numbers: the Rajasthani *khyal* (or *khel*) and the Hindustani *sangit* or *sang*. We have considered the development of *khyal* and its relation to Svang and in the previous chapter have determined that the Khyal folk theatre probably preceded the printed Sangits by about a hundred years. The earliest preserved Sangits in the British Library are *Prahlad sangit* (1866) and *Gopichand bharatari* (1867), both written by one Lakshman Singh (also known as Lakshman Das) and published from Delhi. Each of these was reprinted many times, indicating their great popularity; sixteen editions of *Prahlad* and twenty-seven of *Gopichand* were published between 1866 and 1883 (see figs. 4 and 5). Two editions of *Prahlad* and three of *Gopichand* were written "in Persian characters," that is to say, in Urdu. The fact that multiple copies exist almost from the start of British collecting suggests an already established tradition of Hindi and Urdu folk drama. As with the *khyals* of Rajasthan, we conjecture that Sangit texts were copied and circulated before printing was known in the region. It therefore seems probable that these two texts were composed sometime before 1866; how much earlier we cannot say.”¹

प्रस्तुत लेखक ने हाल ही में (सितंबर'08 में) सुश्री कैथीन हन्सेन से संवाद स्थापित कर उनसे उनके द्वारा 'नौटंकी' साहित्य पर किए गए शोधकार्य की पद्धति की जानकारी ली थी। कैथीन ने यह श्रमपूर्वक शोध क्षेत्रीय सर्वेक्षण, संग्रहालयों में मौजूद पांडुलिपियों के परीक्षण और साक्षात्कारों के माध्यम से संपन्न किया है।

उपलब्ध हरियाणवी सांगो में हीरादास उदासी रचित 'सांग राजा रत्नसैन का' का ऐतिहासिक महत्त्व है। इसकी रचना सन् 1861 से पूर्व हुई थी।² भाषा विभाग, हरियाणा द्वारा

¹ Kathryn Hansen, Ground for Play : Nautanki Theatre of North India, (University of California Press, 1992), p. 90

² 'सांग राजा रत्नसैन का', की भूमिका, सम्पादक : पण्डित स्थाणुदत्त शर्मा,

प्रकाशित इस सांग का संपादन पण्डित स्थाणुदत्त शर्मा ने किया है। इस सांग में तीसियों रागनियों की उपस्थिति प्रमाणित करती है कि उन्नीसवीं शती के उत्तरार्द्ध में इस काव्यरूप का क्रमिक इतिहास बनने लगा है। जैसा कि कैथीन हन्सेन के उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है, इसी काल में सांगों का मुद्रित रूप भी उपलब्ध होने लगता है। हन्सेन ने राजस्थान क्षेत्र में उपलब्ध 'ख्याल' शब्द के विभिन्न अर्थों का विस्तार से विवेचन किया है और इस काव्यरूप के इतिहास-निरूपण के माध्यम से उत्तर भारत में लोकनाट्य की जिस दीर्घ मौखिक परम्परा के क्रमशः मुद्रण का इतिहास रेखांकित किया है, वह महत्त्वपूर्ण है। विशेष यह है कि वे लक्षमण सिंह या लक्षमण दास की जिन रचनाओं का प्रकाशन दिल्ली से बतलाती हैं, उनका हरियाणवी होना ही स्वाभाविक है क्योंकि उनका काव्यरूप 'स्वांग' एवं 'सांगीत' बतलाया गया है और लोकनाट्य की 'सांगीत' संज्ञा हरियाणवी सांगों के लिए अधिक प्रयुक्त हुई है। हन्सेन की स्पष्ट मान्यता है कि 'ख्याल' और 'स्वांग' की 'सांगीत' के मुद्रित इतिहास से कम से कम सौ वर्ष पुरानी मौखिक परम्परा रही होगी लेकिन इस दौरान रचे गए सांगों में समाहित रागनियों का पाठ प्रायः अनुपलब्ध है। जबकि उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध से उत्तर भारत के लोकनाट्यों का मुद्रित पाठ उपलब्ध होने लगता है। समस्त उपलब्ध सामग्री को प्रामाणिक तो नहीं माना जा सकता पर कुछ असंदिग्ध रचनाओं के आधार पर हम रागनी के इतिहास का सूत्रपात उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध से मान सकते हैं।

हरियाणवी सांगों के अंतर्गत विकसित होने वाले रागनी काव्यरूप के इतिहास को अग्रांकित सोपानों में विभक्त किया जा सकता है -

1. प्रथम सोपान - सन् 1850 ई० से सन् 1900 ई० तक
2. द्वितीय सोपान - सन् 1901 ई० से सन् 1920 ई० तक
3. तृतीय सोपान - सन् 1921 ई० से सन् 1945 ई० तक
4. चतुर्थ सोपान - सन् 1946 ई० से अद्यतन

प्रथम सोपान

मुक्तक काव्य-रचना एवं सांगों के घटक के रूप में रागनी सन् 1850 से सन् 1900 तक क्रमशः लोकप्रियता अर्जित करती है। यह काल शिल्प की दृष्टि से रागनी का प्रायोगिक काल है। वर्तमान हरियाणा और पश्चिमी उत्तर प्रदेश के अनेक रचनाकारों ने इस काल में रागनी के स्वरूप को सँवारा है। उनमें प्रमुख हैं: हीरादास उदासी, ताऊ सांगी, अली बख्श, सेदू, गोपाल, शंकरदास, भैयाराम, घीसाराम, आशीराम, चुन्नीलाल, गोवर्धन दास, श्रीराम सारस्वत, गोसाइंराम, पं० किशनलाल, नेतराम, रामलाल, मुवासीनाथ, मानसिंह, फूल, छज्जूराम आदि। इनमें

हीरादास, ताऊ सांगी, अली बख्श, शंकरदास एवं नेतराम का प्रदेय सर्वाधिक एवं ऐतिहासिक महत्त्व का है।

थानेसरी शैली के सांगों के प्रमुख रचनाकार हीरादास उदासी के 'सांग राजा रत्नसेन का' का प्रकाशन भाषा विभाग, हरियाणा ने पण्डित स्थाणुदत्त शर्मा के सम्पादन में 1975 में किया था। इस सांग को देख कर कहा जा सकता है कि अवश्य ही हीरादास ने और भी सांगों की रचना की होगी, पर उनकी अनुपलब्धि की स्थिति में केवल यही रचना विचारणीय रह जाती है। इस सांग की आंतरिक संरचना हिन्दी गीत की पूर्ववर्ती पद-शैली से रचनागत साम्य रखती है। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि हरियाणवी रागनी का उद्भव भी सरहपा, विद्यापति, कबीर एवं सूर की गीति-शैली के क्रम में ही हुआ होगा। तदनन्तर इसने क्रमशः नवीन शैल्पिक कलेवर प्राप्त किया है। हीरादास ने रागनी का प्रयोग अपेक्षाकृत भावात्मकता-प्रधान संदर्भों में किया है, जिससे संकेत मिलता है कि 'कड़ा', 'चौबोला' तथा 'दोहा' में सांगों के वर्णनात्मक कथ्य को स्थान मिला है और रागनी में गीतिपरक तन्मयता अधिक रही है। इस सांग की रागनियों की छांदसिक संरचना निश्चित है, जो इस तथ्य का उद्घाटन है कि लोक-प्रचलित अन्य छन्दों की भांति आरम्भ में रागनी का भी छन्दपरक वैशिष्ट्य रहा है। हीरादास ने रागनी को दो प्रकार की छन्द-व्यवस्थाएँ दी है। उनकी 15-16 रागनियाँ 14 मात्राओं के ऐसे मात्रिक छन्द में रची गयी हैं, जिनकी मूल लय कुछ-कुछ गीतिका छन्द की है। इन रागनियों में टेक या तोड़ का विभाजन नहीं है। दो-दो समान अन्त्यानुप्रासी पंक्तियों के क्रम से एक रागनी में 8 'बोल' या चरण हैं। निम्न उदाहरण से ये विशेषताएँ स्पष्ट होती हैं -

सैर करने चली सारी
संग नित उठ रही प्यारी
महल चंगा बना मंदर
देख कुछ क्या लिखा अंदर
लिखी तस्वीर ये किसकी
देखूँ जीऊँ तरफ जिसकी

परवर्ती रागनियों में इस शैली को ज्यों का त्यों नहीं अपनाया गया तथापि लय-भिन्नता के साथ 14 मात्राओं के दो या तीन चरणों के 'अन्तरा' के प्रयोग की जो प्रवृत्ति आगे चल कर देवीसिंह आदि में दिखाई देती है, उसका आरम्भ उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में ही हो जाता है।

इस सांग में 10-12 रागनियाँ ऐसी हैं, जिनमें 15 या 16 मात्राओं की एक टेक पंक्ति है। तदनन्तर 16+12 मात्राओं के क्रम में दो चरण हैं और फिर टेक की आवृत्ति है। यह मूलतः पद-शैली है। इस सांग की केवल एक रागनी में टेक के बाद दो की अपेक्षा आठ चरण हैं। इस शैली की रागनी का उदाहरण है:

मुझे मार चला मरती को।

ऊँचा गगन चढ़ूँ कैसे मैं नहीं रोकी धरती को॥
सकल उमर मैं काट दई है यह बिपता भरती को॥
मुझे मार चला मरती को।

परवर्ती कवियों ने चौकलिया रागनियों में ही इस छन्द को अन्तर्भुक्त कर लिया है और बाद में कुछ भजनिकों के अतिरिक्त स्वतन्त्र रूप से इसका प्रयोग लगभग नहीं किया गया है।

'सांग राजा रत्नसेन का' के पृष्ठ 93 एवं 203 पर दो ऐसी रागनियाँ उपलब्ध होती हैं, जो उस शैलिक संरचना का इतिहास प्रस्तुत करती हैं, जो बीसवीं शताब्दी में दीपचन्द, देवीसिंह एवं लखमीचन्द ने विकसित की है। इनमें टेक, कली और तोड़ का तो स्पष्ट विभाजन है ही, लय-संरचना भी परवर्ती रागनियों से मेल खाती हैं। दादा शंकर की चार बोल की शैली से भिन्न यह पद्धति हरियाणवी रागनी-काव्य में नए प्रयोगों के साथ लोकप्रिय हुई है। इन रागनियों में अन्तिम कली अथवा उसके साथ के तोड़ के बोल में रचनाकार की छाप की बहु-प्रचलित काव्य-रूढ़ि को भी देखा जा सकता है। निम्न अंश इन विशेषताओं को स्पष्ट करता है:

घोड़े सहज-सहज चल भाई
तुमरे कारण सभा लगाई
जो ऊँची मारै छाल
तेरा असवार जागा हाल
उस्तादी को क्या फिर कमाल
मेरी जब क्या रहै चतुराई... घोड़े सहज...
ठा कै चाबक जों पकड़ावै
सारी महफिल को दिखलावै
जब तू चंचल चपल कहावै
तेरी सभी करें बडियाई.... घोड़े सहज...
ले मसाल चाँदने का जा
क्यूँ फिरता है भाज्या-भाज्या
तेरा गुण महफिल को पाज्या
दीखे चेहरे की रुसनाई.... घोड़े सहज...
राजा रत्नसेन चल आया
घोड़ा महफिल बीच नचाया
ये रंग हीरा साध सुनाया
हमारे मुरसद की कविताई.... घोड़े सहज...

हीरादास साँग की जिस थानेसरी शैली से जुड़े हैं, वह हरियाणा का 'नरदक' क्षेत्र कहलाता है। इस क्षेत्र की भाषा पर पंजाबी के उच्चारण का भी हल्का-सा रंग चढ़ा है। 'सांग राजा रत्नसेन

का' की भाषा में 'नरदक' क्षेत्र की रंगत साफ दिखलाई देती है। उपर्युक्त आकलन से स्पष्ट होता है कि हरियाणवी रागनी के विकास में हीरादास की रचनाएँ ऐतिहासिक महत्त्व रखती हैं। इनका काव्य-सौन्दर्य साधारण है पर इनमें एक नए काव्य-रूप के अभिकल्पन के संकेत निहित हैं। संवाद, कथा-वर्णन, मार्मिक स्थलों के चित्रण एवं द्वान्द्वात्मक मनःस्थितियों के अंकन के लिए रागनी का जो प्रयोग परवर्ती सांगों में हुआ है, उसका मूल रूप हमें यहीं मिलता है।

भाषा-विभाग हरियाणा ने उन्नीसवीं शताब्दी के एक और महत्त्वपूर्ण सांग का प्रकाशन किया है। वह है- ताऊ सांगी कृत 'रुक्मिणी-विवाह'। लेखक का मूल नाम क्या है, यह अभी तक स्पष्ट नहीं हो पाया है। सन् 1970 में प्रकाशित इस सांग की भूमिका में इसे लगभग सौ वर्ष पुराना बतलाया गया है अर्थात् भूमिका-लेखक के अनुसार यह रचना 1870 के आसपास की है परन्तु यदि उसके पाठ का भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन किया जाए तो इसकी भाषा 'सांग राजा रत्नसेन का' से पुरानी नजर आती है। अतएव इस संभावना से इनकार नहीं किया जा सकता कि अनुसंधान के आधार पर ताऊ सांगी हीरादास के पूर्ववर्ती सिद्ध हों।

'रुक्मिणी विवाह' में अन्य काव्य-रूपों के साथ-साथ रागनी का भी प्रयोग हुआ है। इसमें 15 रागिनियाँ संकलित हैं। इनका शिल्प-विधान हीरादास उदासी की रागनियों से बहुत भिन्न है। इनमें टेक का विभाजन तो स्पष्ट है ही, चरणों की संख्या भी हीरादास उदासी की रागनियों से अधिक है। कई रागनियों में तो 48 चरण हैं। लय अत्यंत गतिशील एवं विधिवतामयी है। भावतन्मयता एवं मार्मिकता भी इन रागनियों में विशेष रूप से देखी जा सकती है। इन विशेषताओं को इस उद्धरण में देखा जा सकता है -

तीन रोज की बात

ताप दिन रात

है रे तन भारि

सब देखो तन का हाल चाल माता रि

परसों से नीर ना पिया

कठन दुख दिया

चढा पाले से

पाला पल पल लगे भस्म डाले से

रूम-रूम में रमें जतार्ये हमें तगे ताले से

ताले से टूटन लगे अगन जाले से

जो सखि पास कोई आवै

मुझको कोई ना भावै

निज पापी ताप सतावै

परसों से दिन रात

चढ़ा एक साथ

पकड़ के हाथ

देखयो रि नारि

सब देखो तन का हाल चाल माता रि

उपर्युक्त अंश में विद्यमान अनुप्रास-योजना ने परवर्ती रागनियों को भी प्रभावित किया है। रागनी के विकास में ताऊ सांगी का उल्लेखनीय योगदान है। उस काल के सम्पूर्ण साहित्य के उपलब्ध हो जाने पर ही रागनी के विकास के अनेक टूटे हुए सूत्र जुड़ सकते थे।

अंग्रेजी शासन-काल में भारत में पुस्तकों के प्रकाशन के संबंध में एक कानून बना था, जिसके अनुसार प्रत्येक प्रकाशित पुस्तक की एक प्रति सरकार के पास जमा करानी अनिवार्य थी। इसका एक लाभ यह हुआ कि 'इंडिया ऑफिस लंदन' और 'ब्रिटिश म्यूजियम लाइब्रेरी' में उन्नीसवीं शताब्दी में प्रकाशित सांगों की कई प्रतियाँ आज भी उपलब्ध हैं। ऐसे प्रकाशनों का हवाला देते हुए कैथरीन हन्सेन ने लिखा है:

“Between 1866 and 1896, thirty-two titles appear as lithographed Sangits in the London collections. Half of them treat religious themes (seven legends of saints, nine stories from Ram and Krishna *lilas*); more than a third are romances (nine Hindu or regional, three Islamic), and only a handful are heroic and contemporary stories (two martial chronicles, two modern stories). The most popular as measured by reprintings were the legends of saints (*Gopichand*, *Puranmal*, *Raja harishchandra*, *Dhuruji*, *Prahlad*) followed by the romances *Rup basant* and *Saudagar vo syahposh* . The plays were most frequently published from Delhi by Mishra Bhagvan Das of Brahman Press and by Munshi Naval Kishor; from Meerut by Pandit Hardev Sahay of Jnan Sagar Press and”¹

कैथरीन हन्सेन ने जॉर्ज ग्रियर्सन का यह मत भी उद्धृत किया है कि उन्नीसवीं शताब्दी में पूरे उत्तर भारत में गोपीचंद भरथरी का किस्सा बहुत ही लोकप्रिय था। उनका कथन इस प्रकार है:

The widespread availability of the Sangit of *Gopichand* was noted by G. A. Grierson, who published a fragment of the text in the *Journal of the Asiatic Society of Bengal* in 1885. "There is no legend more popular throughout the whole of Northern India, than those of Bharthari and his nephew Gopi Chand. ... A Hindi version of the legend can be bought for a few pice in any up-country bazar." The story concerns the conversion of a king to the ascetic way of life that Guru Gorakhnath embodied. The

¹ Kathryn Hansen, *Ground for Play : Nautanki Theatre of North India*, (University of California Press, 1992), p. 92

Sangit has remained a popular classic for over a century. I recently discovered contemporary reprints of the original edition in markets in Hathras and Jaipur.”¹

कैथीन हन्सेन द्वारा प्रस्तुत अध्ययन अब तक हुए 'ख्याल' 'स्वांग' 'नौटंकी' और 'सांगीत' के इतिहास के शोध में तो अत्यंत महत्त्वपूर्णयोग देता ही है, प्रकारांतर से रागनी के इतिहास से भी जुड़ता है पर दुर्भाग्य से उनका शोधकार्य समग्रतापरक नहीं है। वह उत्तरप्रदेश लोकनाट्यों से ही अधिक जुड़ा है। अपने वक्तव्यों में हन्सेन ने जिन लेखकों से मिलने एवं सहायता लेने का जिक्र किया है, संयोग से वे भी 'नौटंकी' अथवा स्वांगों की उत्तरप्रदेश में प्रचलित शैली से ही अधिक परिचित थे। इसीलिए उनका अध्ययन अधिकतर नौटंकी की हाथरस एवं कानपुर शैलियों तक ही सीमित होकर रह गया और सांग के थानेसर घराने से वे अधिक नहीं जुड़ पाईं। इसी का यह परिणाम है कि अपने श्रमसाध्य शोधकार्य के दौरान वे व्यक्तिगत रूप में सांगों की जो प्रतियाँ संग्रहीत कर पाई हैं, उनमें लखमीचंद जैसे बड़े कवि के केवल दो सांगों का उल्लेख है² जबकि वे स्वयं यह लिखती हैं कि लखमीचंद हरियाणा के प्रसिद्धतम कवि थे और 'इंडिया ऑफिस लंदन' में उनके 1937 से 1939 तक रचित चौदह सांग संग्रहीत हैं। वे अपने व्यक्तिगत संग्रह में लखमीचंद के जिन दो सांगों का उल्लेख करती हैं, उनमें से एक 'नौटंकी' ही है (वह भी शायद इस लिए कि उनका शोधकार्य 'नौटंकी' विधा पर ही केंद्रित था)। लखमीचंद की दूसरी रचना के रूप में उन्होंने 1937 में अग्रवाल बुक डिपो से प्रकाशित 24 पृष्ठीय सांग 'लैला मजनू-मक़तब की यारी' का उल्लेख किया है। इसकी उपस्थिति वे 'इंडिया ऑफिस लंदन' के संग्रह में बतलाती हैं। विचित्र यह है कि लखमीचंद के किसी अन्य अध्ययनकर्ता ने उनके नाम से इस रचना का कभी उल्लेख नहीं किया है। तो क्या यह रचना भी उसी प्रकार काल का ग्रास बन गई जिस प्रकार अन्य मौखिक पम्परा की रचनाएँ बनती रही हैं?

यहाँ हमने हन्सेन के कथनों के लम्बे उद्धरण यह दिखलाने के लिए ही दिए हैं कि उन्नीसवीं शताब्दी में उत्तर भारत में 'नौटंकी' और 'सांगीत' की अभंग शृंखला शुरू हो चुकी थी। हरियाणा में यह नाट्यरूप सांग के रूप में स्थापित हो रहा था। रागनी इन्हीं सांगों के कथानकों की गीतिमयी अभिव्यक्ति के रूप में विकसित हो रही थी।

ताऊ सांगी के बाद दीपचंद युग से पूर्व 'रागनी' विधा में उल्लेखनीय प्रयोग अलीबखश एवं शंकरदास ने किए हैं। अलीबखश का रचनाकाल सन् 1845-1899 माना गया है।³ अलीबखश

¹ Ibid. p 90

² Ibid. Appendixes pp. 297-298

³ "उन्हीं की हस्तलिखित सामग्री के आधार पर डॉ० महेन्द्र भानावत ने 'राजस्थानी लोकनाट्य की प्रवृत्तियाँ' नामक अपनी पुस्तक में अलीबखश का समय सन् 1845 से 1899 तक माना है।

रचित लगभग दस सांगों में दोहा और चौबोला को प्रमुखता मिली है, पर उनके द्वारा अनेक रागनियों के रचे जाने का भी अनुमान है। जिन सांगों में उन की रागिनियाँ उपलब्ध होती हैं, उनमें प्रमुख हैं- 'कृष्ण-लीला', 'पद्मावत', 'नल-दमन-छड़ाव', 'नल-दमन-बगदाव' एवं 'गुलबकावली'। इन सांगों में आई रागनियों में से अधिकांश में 'तोड़ के बोल' की आवृत्ति नहीं है, तो भी हीरादास की तुलना में इनमें प्रयोगशीलता अधिक है। अलीबख्श ने सांगों की अनेक नयी धुनों का आविष्कार किया था। इसका प्रभाव रागनी पर भी पड़ा है। रचनाकार की छाप, संवादपरक 'मिलमा' रागनी और 'त्रिशूल' रागनी जैसे प्रयोग इन्होंने किए हैं। गीति-माधुर्य से सम्पन्न ये रागिनियाँ नाटकीयता से भी संपन्न हैं। एक उदाहरण देखिए :

नल : ल्या राणी मछली मेरी में कर आया असनान

दो तीतर ल्याया पकड़ कै तू कर भूण का सामान

मछली लाओ सुहागण नार

तीतर बेग करो तैयार

दमयन्ती : राजा मछली मांगते और नीचे मेरे नैन

भूख सिवा भगवान अब लग्या और दुख देन

जननी क्यों जनमें थी री

करम में यही लिखी थी री

नल : मैं मारे भूख के रानी तन से तजूँ प्राण

तू जवाब देती नहीं ये कोई भेद भगवान

लाओ मछली सुहागण नार

तीतर बेग करो तैयार

दमयन्ती : राजा रिस में मत भरो तुम सुनो सहज सुर जान

में दोनों मछली खा गई मेरा निकस गया ईमान

जननी क्यों जन्मै थी री

करम में यही लिखी थी री

इस रागनी की परवर्ती कलियों में पात्र द्वारा क्रमशः पूर्व पदों के अंतिम चरण की आवृत्ति से टेक का निर्माण किया गया है। यह रागनी इस महत्त्वपूर्ण तथ्य का भी उद्घाटन करती है कि उन्नीसवीं शताब्दी के अंत तक आते-आते रागनी में कड़ा, चौबोला, ख्याल, दोहा आदि को भी अंतर्भुक्त कर लिया गया है। उपरि-उद्धृत रागनी के अंतरे दोहों के द्वारा निर्मित है।

डॉ० रामनारायण अग्रवाल ने 'सांगीत : एक अध्ययन' में और डॉ० पूर्णचंद्र शर्मा ने 'हरियाणा की लोकधर्मी नाट्य-परम्परा' में यही समय स्वीकार किया है।" --डॉ० रामकुमार भारद्वाज एवं डॉ० अनिता भारद्वाज, लोककवि एवं नाट्यकार अलीबख्श, पृ० 11.

बीसवीं शताब्दी में देवी सिंह ने भी यह प्रयोग किया है। लखमीचन्द के काल में तो शेष सभी काव्य रूपों को रागनी में शक्कर की तरह घोल लेने की प्रवृत्ति मिलती है। अलीबखश की रागनियों में हीरादास की तुलना में मार्मिकता में भी वृद्धि हुई है। आपद-ग्रस्त नल-दमयन्ती का चित्रण करने वाली यह रागनी इसका उदाहरण है:

नल : सुख-दुख भगवत दिया तूने कैसी कीनी हाय
 म्हारे करमों में विपदा लिखी तू क्यों रही दुख पाय
 प्यारी जी रोवो मत ना तूने पीहर द्यूँ पहुँचाय

रानी : विपदा भगवत नै दई निस दिन रोवत जाय
 तुम भुगतो हम ऐस मनावैं धृग जीवन जग माँह
 मोरे राजा जी छोड़ो मत ना हम दुखियारी नार

नल : हम दुखिया भुगतन को डार दिए करतार
 जब दिन सूधे होय हमारे फिर मिलेंगे आय
 प्यारी जी रोवो मत ना तूने पीहर द्यूँ पहुँचाय

रानी : सुख में सब साथी भए कोई दुख में करै ना सार
 अलीबखश अब राजा-राणी दर-दर फिरते खवार
 राजा जी छोड़ो मत ना हम दुखियारी नार

हरियाणवी साहित्य का प्रसार केवल उस क्षेत्र तक ही नहीं रहा है, जिसे आज राजनैतिक विभाजन की इकाई के रूप में हरियाणा कहा जाता है, वरन् यह प्रसार वर्तमान उत्तर प्रदेश के कई पश्चिमी जिलों में भी रहा है। यह क्षेत्र हरियाणवी साहित्य से आस्वादन के धरातल पर ही नहीं जुड़ा है अपितु रचना-कर्म में भी इसका विशेष योगदान रहा है। जिला मेरठ के गाँव जाठोली के निवासी दादा शंकर को तो आधुनिक सांग का जन्मदाता ही माना जाता है। इस क्षेत्र में गत सौ वर्षों में किशन लाल, शेदू, लछमन, गोपाल, गंगाराम, नत्थू, मानसिंह, चौ० बुधवास, पं० रघुबीर, चन्द्रलाल भाट एवं मनफूल सिंह त्यागी आदि ने हरियाणवी में काव्य रचना की है। इन सब में दादा शंकर का स्थान सर्वोपरि है।

हरियाणवी काव्य को आधुनिक सोपानों तक लाने में शंकरदास का विशेष योगदान है। उनकी रचनाओं में रागिनियों की संख्या में भी बहुत वृद्धि हुई है। इसके अतिरिक्त चार बोलों की उन चौकलिया रागनियों की परम्परा भी उन्हीं में विशेष रूप से मिलती है, जिनकी रचना बीसवीं शताब्दी में प्रचुरता से हुई है। अपने पूर्ववर्ती कवियों का उल्लेख उन्होंने अपनी एक रागनी में यों किया है -

तब सेदू सिंह मुसद को मिला ठिकाना
 उनसे पीछे लछमन सिंह हुआ दिवाना
 गोपाल लाल नै करकै इश्क पिछाना

पौराणिक एवं वैदिक साहित्य, चिकित्सा, योग एवं पिंगल आदि के ज्ञाता शंकर की प्रमुख रचनाएं हैं - ब्रह्मज्ञान, बुद्धिप्रकाश, मुक्ति प्रकाश (चार भाग) तथा ज्ञान दीप धर्म प्रकाश। इनमें सैकड़ों रागिनियाँ संकलित हैं। उनके काव्य में पांडित्य और लोकभाषा का समन्वय पंडित लखमीचन्द्र के ज्ञान-मंडित काव्य का प्रेरणास्रोत रहा होगा, इसमें संदेह नहीं। शंकर का अध्यात्मोन्मुखी काव्य हरियाणवी रागनी की एक ओर प्रवृत्ति को स्पष्ट करता है। हरियाणवी में इस प्रवृत्ति की रचनाओं को 'भजन' कहा गया है। भजन संरचना और अभिव्यक्ति रूप की दृष्टि से रागनी ही है। विषय की दृष्टि से शंकर रागनी में एक ओर प्रवृत्ति के प्रणेता हैं। सिद्धों, नाथों, कबीर एवं सूर की जो दृष्टकूट शैली हमें लखमीचन्द्र में मिलती है, शंकर ने अपने होली काव्य के अन्तर्गत ऐसी अनेक रागनियों की रचना की है।

शिल्प-प्रयोगों की दृष्टि से शंकरदास के काव्य में अधिक विविधता नहीं है। अधिकांश रागिनियाँ पद-शैली की टेक-पंक्ति से आरम्भ होती हैं। प्रकाशित संस्करणों में कली या अंतरा से पूर्व लावणी शीर्षक भी मिलता है। लावणी छंद का लोक-माधुर्य इन रागनियों में है भी। शंकरदास ने चार बोलों की रागनी को प्रचलित चौमोला के स्थानापन्न के रूप में प्रस्तुत कर सांगों में वर्णन कौशल का अपेक्षाकृत प्रभावी रास्ता निकाला है। उनकी रागनी-रचना की दो भिन्न पद्धतियों के उदाहरण यहाँ प्रस्तुत हैं -

(क) पिता मानो वचन हमारा

जनम लिये का यही धरम है परमारथ हित दान करै
सूरवीर की यह पहचान है कभी ना रण में हार करै
ज्ञानी के पिता! ये लक्षण हैं नहीं कभी मदमान करै
दाना दुश्मन कभी ना राजा घात सतरु की ज्यान करै
सोच समझ पिता दिल के अंदर में किस विध खेंचू आरा
जो करोंत धर सिर पै खेंचू मुझ पापी को दोष लगै
मुझे सिंह की भेंट चढ़ा दो, यहाँ से क्या सौ कोस जगह
नालायक ओ बेटा होता जो पिता काज खामोश भगै
धर्मराज कै जाकै सामणै सिर पर तो पापोश लगै
अधर्म आज कराओ मुझसे में तो आखिर पुत्र थहारा
हो जग में अपकीरत इसमें जो चीरूँ थहारी काया
मेरा होवै नरक में बासा इस खात्यर मन सर माया
परम धरम परमार्थ हित कर तुमनै आरा मंगवाया
में तो जाणूँ तुम भए अजीरण भूखा शेर कोए चल आया
मुझको खाय पेट भर लेगा जग छावैगा जस भारा
इतनी कहकै चुपका ठाड़ा फेर नृप नै समझाया

अब मत आज्ञा मेरी टारै राज कए मन हरसाणा
धन दौलत जो बन जग झूठा सब सुपने की है माया
सिंह अंग मेरा मांगै है द्विज जायन मुझको आया
शंकर कथै जिठोली वाला जिस नै ऐसा छंद उचारा

शंकर लोक भाषा के ज्ञाता और संगीत के पंडित थे। उपर्युक्त रागनी के अतिरिक्त उनकी कुछ लघु आकार की रागनियों में लय और छंद के नए प्रयोग मिलते हैं। यथा -

इस दुनिया में दो दीन हैं
लगी इन दोनों में बाजी
इधर हैं मस्जिद उधर शिवाला
उनकी तस्वी इनकी माला
सबको एक है देने वाला
ऐसा चतुर प्रवीण है
क्यूं झगड़ै पंडित काजी
वही अलफ और वही कक्के में,
वही काशी और वही मक्के में,
वही धीवर और वही वक्के में,
दोनों में मक्क मीन है,
बता इन में कौन-सा पाजी,
भूल रहा तू बिना खबर में,
आज तो आज्या सचे घर में,
वही चिता और कबर में,
दोनों का दीन जमीन है,
चाहे सन्यासी हो या हाजी।

हीरादास, अलीबखश और शंकरदास सन् 1850 से 1900 तक के रागनी-काव्य के प्रमुखतम हस्ताक्षर रहे हैं और ये तीनों कवि रागनी की जिन तीन अलग-अलग शैलियों के प्रयोक्ता रहे हैं, वे शैलियाँ इनके अलग-अलग साँग घरानों का भी निर्माण करती हैं। हीरादास थानेसरी अखाड़े के कवि हैं, अलीबखश रेवाड़ी शैली के प्रणेता हैं। दीपचंद के साथ जिस रोहतक शैली के सांगों की रचना आरंभ होती है, उसका काव्यपक्ष एक ओर 'शांकर' परम्परा से प्रभावित है, दूसरी ओर थानेसर शैली को भी उसने आत्मसात् किया है।

शंकर के काल से ही रागनी की अंतिम कली में रचनाकार की छाप के साथ एक ओर कवि-रूढ़ि का जन्म हुआ था; वह थी गुरु परम्परा का उल्लेख। ऊपर इसका उदाहरण दिया गया है। इस काव्य-रूढ़ि का लाभ यह हुआ है कि इस काव्यरूप के इतिहास का रेखांकन अन्तः साक्ष्य

के आधार पर संभव हो सका है। गत सौ वर्षों में रची रागनियों में से कुछ उद्धरण इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण बन पड़े हैं। उन्हें हम यहाँ दे रहे हैं -

(क) सेदू, लिखमन, गुरु गोपाल का
सदा भला हो शंकर लाल का
नेतराम द्विज कहै इस्माल का
हमें गाणे से प्यार हुआ
तेरा बोल कालजै खुभग्या

(ख) कवि सेदू, लिखमन, गोपाल, शंकर ब्रह्मा चार बण बैठे
नत्थू, मांगे, जमनादास, वेदों का सार बण बैठे
बन्दा बनवारी पाकिस्तान इस्लाम के यार बण बैठे
देसा भगत और धनपत सिंह कई लौंडे नचार बण बैठे

(उपर्युक्त उद्धरण में जिन मांगेराम का उल्लेख है, ये सुनारियाँ गाँव के थे और पंडित लखमीचंद के शिष्य मांगे राम से भिन्न थे तथा लखमी ये के पूर्ववर्ती थे। जमनादास इनके शिष्य थे, जिनका पूर्ववर्ती नाम जमुआ मीर था।)

(ग) मुवासी नाथ तेरे अंदर छाण कै मिले थे आप
मानसिंह तेरे अंदर जाण कै मिले थे आप
लखमीचंद तेरे अंदर आण कै मिले थे आप

.....
एक दिन माता तेरे अंदर मांगे राम आणे आला

पूर्वोक्त उद्धरणों एवं अन्य प्राप्त प्रमाणों के आधार पर कहा जा सकता है कि सन् 1850 और 1900 के बीच उपरिविवेचित तीन कवियों के अतिरिक्त सेदू, लिखमन, गोपाल, भैया राम, कृष्ण गोस्वामी, घीसा राम, आशा राम, चुन्नी लाल, गोसाईं राम, किशन लाल, नेतराम, रामलाल, मुवासी नाथ, मानसिंह, फूल, छज्जूराम आदि कवि रागनी-रचना में अपना योग देते रहे हैं। पं० किशनलाल के 'बारहमासा' में यद्यपि दोहों का भी प्रयोग है पर इसका मूल ढाँचा रागनी के समीप है।

शंकर के शिष्य पंडित नेतराम उस संक्रमण-बिन्दु पर उपस्थित हैं, जिसके पूर्ववर्ती काल में रागनी प्रायोगिक स्थिति में है और परवर्ती काल में वह अपने चरम विकास को प्राप्त करती है। यद्यपि नेतराम एवं दीपचन्द दोनों का अवसान-काल संवत् 1977 ही है पर रचनाकाल की दृष्टि से ये दीपचन्द के पूर्ववर्ती थे। उनका अधिकांश काव्य चौबोला छंद में है पर उन्होंने अनेक रागनियों की भी रचना की है। शंकर की तुलना में इनकी ढाई या तीन बोल की रागनियों की शैली को दीपचन्द आदि ने अधिक ग्रहण किया है। उपदेशात्मकता उनके काव्य का प्रधान स्वर है। माया के विषय में वे लिखते हैं -

माया नै बहोत मार गरे / जग में मोहे मेर-सुमेर

नेतराम भी सोच करै / राजपाट गए छूट

नेतराम की भाषा में नए युग की अनुगूँजें अधिक हैं। उनकी रागनियों में शैल्पिक चमत्कार का विशेष स्थान है। उन्होंने ऐसी औष्ठ्य वर्ण रहित रागनियों की भी रचना की है, जिन्हें गाते समय मुख खुला ही रहता है। यथा -

अरजुन गरजै / सकल दल लरजै / दल नै कतल करै धनंजय।

रागनी के विकास के प्रथम चरण में अन्य काव्य-रूपों की तुलना में इसकी मात्रा अपेक्षाकृत कम है, परन्तु शिल्प के नवीन प्रयोगों एवं अस्तित्व के संघर्ष की दृष्टि से इस काल का विशेष महत्त्व है।

द्वितीय सोपान

हरियाणवी काव्य में उन्नीसवीं शती के अंत में रूपगत परिवर्तन तेजी से घटित हो रहे थे। इस काव्य के सूत्र प्रमुखतः भजनिकों एवं सांगियों के हाथ में थे। संगीतमय प्रस्तुति, काव्य की नृत्यमयी प्रस्तुति एवं अभिनय की रोचकता के कारण साँग की लोक में पैठ अधिक थी। इस युग तक आते-आते साँग अधिकाधिक गीतिमय हो गए थे। इसलिए रागनी को इस युग में हरियाणवी काव्य में प्रमुख स्थान मिल गया था। सन् 1900 से 1920 तक के हरियाणवी काव्य ने रागनी की संरचना को स्थिर करने में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। शिल्प-संरचना एवं बाह्य विशेषताओं की दृष्टि से इस युग में रागनी की तीन रूढियाँ स्थिर होती हैं। वे थीं : 1. रागनी का टेक, कली एवं तोड़ का स्पष्ट ढाँचा, 2. सामान्यतः रागनी में चार कलियों का प्रयोग और 3. अंतिम कली में रचनाकार का आत्मकथ्य तथा अपना अथवा अपने गुरु का नामोल्लेख। विषय-प्रतिपादन की दृष्टि से भी इस काल में अग्रिम विकास के लक्षण स्पष्ट हैं। इस युग के प्रमुख कवि हैं - पंडित दीपचंद, मांगेराम (सुनारियाँ वासी) सरूपचंद, सोहन, हरदेवा व जमुआ मीर।

शंकर के बाद सांगों में रागनी के आनुपातिक संवर्द्धन का श्रेय दीपचन्द को ही दिया जाता रहा है। उनके प्रसिद्ध सांग हैं - सोरठ, हीर, ज्यानी चोर, नौटंकी, हरिश्चन्द्र, गोपीचन्द। कैथीन हन्सेन ने दीपचन्द द्वारा रचित नौटंकी के मुजफ्फरनगर से 1932 में प्रकाशित होने का उल्लेख किया है।¹ इनमें चौबोला और काफिया के साथ-साथ सैकड़ों रागनियाँ भी संकलित हैं। ये रागनियाँ विषय, भाषा एवं संरचना में पूर्व परम्परा से बहुत हट कर हैं। हरियाणवी का ठेठ रूप

¹ Kathryn Hansen, Ground for Play : Nautanki Theatre of North India, (University of California Press, 1992 : Notes- Chapter One

एवं जन-प्रचलित मुहावरे दीपचन्द की रागनियों की प्रमुख विशेषताएँ हैं। निम्न उदाहरण से यह अंतर स्पष्ट होता है -

मनै धरती के मार डिगरगी वा छूछक की लडकी रे

**तन पै बिपता झेल्या करता
तरी भैंसा नै मेल्या करता
जिसतै में खेल्या करता काणा लेगा वा गौंड रबड़ की रे**

**लोट्या करती भैंस लेट में
रहूँ था उस हीरा की ठेठ में
आज मेरे उड्डया दरद पेट में फाकी दे दिए नूण हरड़ की रे**
हरियाणा की भाषिक अस्मिता की पहचान उस काल की रागनियों से ही निर्मित हुई है।

अंत्यानुप्रास की विशेष पद्धति पर आधारित रागनी का यह संरचनात्मक ढाँचा आगे देवीसिंह ने विशेषकर अपनाया है। इस से रागनी की शैली में बहुत परिवर्तन आया है। दीपचन्द ने परवर्ती कवियों को विषय की दृष्टि से भी प्रभावित किया है। पौराणिक दृष्टांतों को अप्रस्तुत के रूप में प्रयोग में लाने की प्रेरणा लखमीचन्द ने दादा शंकर के अतिरिक्त दीपचन्द से ली होगी, वह इन प्रयोगों से स्पष्ट है :

मनै मत भेजै हे रोवणी पैर पसार

**गये थे बैठ मौत नै घड़ कै
सब पत्थर हगे पड़ कै
उस कपिल मुनी तै अड़ कै
सगर के कित गये साठ हजार?**

दीपचन्द ने महाभारत के विवाद एवं प्रवाद-ग्रस्त संदर्भ 'द्रोपदी-चीर-हरण' की मार्मिक प्रस्तुति की है। निस्संदेह इस सांग का प्रभाव भी लखमीचन्द पर पड़ा होगा। दीपचन्द ने जहाँ 'सोरठ' में संगीत के लालित्य का परिचय दिया है, वहाँ उन्होंने महाभारत के प्रसंगों को भविष्य-वचन की शैली में ठेठ हरियाणवी में यों प्रस्तुत किया है -

**दुःशासन चीर छोड़ दे अनरथ तै धरती हिल ज्यागी
बात ना करते अणजाणा तै
बिगड़ी धुर तक के ठाणा तै
एक दिन अरजन के बाणा तै तेरी गद्दी सिल ज्यागी
गुरु द्रुण डुब्बे सै पढ़ गुण कै**

प्यारी रो रही सै सिर धुन कै
अस्तुधाम का मरणा सुण कै तरी फक-दे-सी ज्यान निकल ज्यागी
जेठ करण खयाल कर दानी
जगत में बदनामी रहै ना छयानी
सारे बण बैठे अभिमानी इक दिन दहदल त्यरा अरथ निगल ज्यागी
सब तै कह रही सूं रो-रो कै
बैठ गे बस्या बसाया खोकै

इक दिन खून में खेस डबो कै प्यारी खास हुमाला गल ज्यागी

लोक-मन की मार्मिक अभिव्यक्ति के कारण दीपचन्द ने रागनी को असीम लोकप्रियता दी है एवं इसमें नवीन-प्राण-प्रतिष्ठा की है। दीपचन्द के संदर्भ में हरियाणवी साहित्य के प्रत्येक अध्येता ने यह भी उल्लेख किया है कि अंग्रेजों के कहने पर दीपचन्द ने रागनी काव्य का प्रयोग हरियाण के नवयुवकों को फौज में भर्ती होने की प्रेरणा देने के लिए किया था। इस संदर्भ में उनकी सर्वाधिक उद्धृत पंक्तियाँ हैं :

भरती हो ल्यो रै थारै बाहर खड़े रँगरूट

आड़ै राखो मध्यम बाणा

अर मिल्लै फट्या पुराणा

उत मिल्यैंगे फुलबूट

दीपचन्द की अन्य बहु-उद्धृत पंक्तियाँ हैं :

टुक-सा नीर पिल्या दे और घाल मेरे लोटे में

तू भले घराँ की दिक्खै सै तनै जनम लिया टोटे में

तू मेरी साथ में होले नै दामण मँढ़वा द्यूँ घोटे में

लेकिन ऐसे अध्येताओं ने ज्यादातर इन उद्धरणों के साथ ही दीपचन्द के रागनी काव्य के मूल्यांकन की इतिश्री मान ली है। उनके रागनी काव्य का पाठानुसंधान और मूल्यांकन बहुत ही कम हुआ है

रागनी की शैल्पिक प्रविधि को विकसित करने में सरूपचन्द का स्थान भी उल्लेखनीय है। उनकी रागनियों में शृंगार की सरसता के साथ-साथ नैतिक मूल्यों की स्थापना का प्रयास भी है। वन, पर्व, चीर पर्व, विराट पर्व, उत्तानपाद या हरिश्चन्द्र जैसे महाभारत-आधृत सांगों में ही नहीं, सिल्ला सेठाणी जैसे सांगों में भी हरियाणवी काव्य के अन्य विविध रूपों के साथ-साथ उनकी रागनियाँ संकलित हैं। इनमें प्रयोग-वैविध्य बहुत हैं, यहाँ तक कि उन्होंने ग़ज़ल को भी रागनी में ढाला है। सहज भाषा में उनकी रागनियों की विशेषता इस उद्धरण में देखी जा सकती है -

सुनो मेरे भरतार

तुमने करी किधर की त्यारी

नारंगी रंग सुहागण
सिलवट क्यूं लागे त्यागण
पके नीम्बू खिले अनार
या मद छा रही केसर क्यारी

तज कलाकंद क्यूं जाते
पिया गुड़ चोरी का खाते
उन मरदों को धिक्कार
जो बिन खोट बिसारें नारी।।

सरूपचन्द की रागनियों में दीपचंद और देवीसिंह की रागनियों की तुलना में टेक और अन्त्यानुप्रास-संयोजन में एक हल्का-सा परिवर्तन है। उन्होंने टेक की यति के साथ अंतरे की यति का अनुप्रास मिलाया है। ऊपर उद्धृत की गई रागनी में भरतार, अनार और धिक्कार इसके उदाहरण हैं। बाद में लखमीचन्द ने तो शैली में बीसियों प्रकार की विविधताएँ उत्पन्न की हैं। बीसवीं शताब्दी में खड़ी बोली के हिंदी गीतिकाव्य को इन शैलीगत प्रयोगों ने बहुत प्रभावित किया है।

सुनारियाँ के कवि मांगेराम दीपचंद के काल में ही हुए हैं। इन्होंने सांगों की तुलना में स्वतन्त्र रागनियों की रचना अधिक की थी। जमुआ मीर इनके ही प्रतिभाशाली शिष्य थे। 85 वर्ष की दीर्घायु पाने वाले कवि जमुआ मीर का देहान्त तो सन् 1959 में होता है पर इनके रचना-कर्म का विस्तार रागनी के विकास के द्वितीय, तृतीय एवं चतुर्थ सोपानों तक रहा है। भारत-पाक विभाजन के समय इन्होंने हिन्दू धर्म ग्रहण कर लिया था, तब इन्होंने अपना नाम जमनादास रख लिया था। इनकी रागनियाँ नल-दमयन्ती तथा द्रौपदी-चीर-हरण सांगों में संकलित हैं। लय एवं छन्द की दृष्टि से जमुआ ने पूर्ववर्ती कवियों की तुलना में अधिक प्रयोग किए हैं। शिल्प के नवीन प्रयोगों की झलक उनकी निम्न रागनी में मिलती है-

मैं मूरख कै ब्याह दी हो दादा ना दुख रोया जा
उठे समन्दर बरगी झाल
दादा के बूझैगा हाल
किते तै जहर मंगा कै खाँगी
मैं बिन बालम होगी नाँगी
कह जमुआ बोल छाँट कै
मैं मर ज्याँगी कणी चाट कै
काठ कै बीच फँसादी, हो, ना बैठूँ ना सोया जा

विरह की मार्मिकता जमुआ मीर की रागनियों की विशेषता है। रागनी के विकास के तीसरे और चौथे चरण में प्रसिद्धि पाने वाले धनपत डूम जमुआ मीर के ही शिष्य थे।

दीपचंद काल के रागनी-काव्य को समृद्धि प्रदान करने में दीपचंद के ही शिष्य हरदेवा का भी विशिष्ट स्थान है। हरदेवा का देहान्त संवत् 1983 में लगभग 50 वर्ष की आयु में उनकी ससुराल कुलासी में हुआ था।¹ इसमें स्पष्ट है कि वे दीपचन्द काल से ही रचनारत थे। रागनी को सांग का प्रमुख घटक बनाने में हरदेवा, बाजे और चतरु का उल्लेख जहां लखमीचन्द के शिष्य मांगेराम ने अपनी एक रागनी में किया है, वहाँ देवीशंकर प्रभाकर तो रागनी को सांग में प्रथमतः समाविष्ट करने का श्रेय ही हरदेवा को देते हैं। हरदेवा ने दीपचंद एवं सरूपचंद की दो एवं ढाई बोल की रागनियों की परम्परा को तो अपनाया ही, शंकरदास की परम्परा में चली आ रही चार बोल की रागनियों की रचना भी की। इनमें अनुभव-सापेक्ष सूक्तिपरकता का गुण उल्लेखनीय है। यथा -

हिजड़ा के जाणै कामन के रस नै,
गूँगा के जाणै राग सही है
शेर के जाणै रांडी का पूत,
मौत के जाणै एक यही है
बालू की भीत, पछीत का पाणी,
ओछे की संगत सदा गही है।
कहँ गुरु दीपचन्द पार वे होंगे
जिन नै शांती धार लई है।

चंद किरण सांग के सूफी-सिद्धांत-आश्रित कथानक को मार्मिक रागनियों में अपने-अपने कौशल के अनुरूप बीसवीं शताब्दी के तीन महान् हरियाणवी कवियों (हरदेवा, बाजे और लखमीचन्द) ने ढाला है। हरदेवा की सूक्तिपरक शैली इस सांग की रागनियों में भी दिखलाई देती

¹ हरदेवा के देहान्त का संकेत उनके शिष्य चतरु की एक रागिनी इस अंश में मिलता है:

मोक्ष प्राप्त हुए गुरुजी साल तिरासी में
सास-ससुर बैठे जड़ में
दोन्नुँ हाथ लगा कै कड़ में
ना पहुँचण पाया गोरड़ में
छिपग्या चाँद कुलासी में

हैं। हरदेवा ने परकीय प्रेम से उत्पन्न विसंगतियों का चित्रण एक रागनी में इस शैली में किया है:

आशकी मत कोये करियो
मरद नै तै बिन आई मरणा हो।

आशकी सै बेल नाश की
एक ते माया लुटै पास की,
चाहे करो शेर आशकी
पर गीदड़-भभकी तै डरणा हो,

कह हरदेवा मुश्किल दिन कटणे।
बेमाता के हरफ ना मिटणे
सै आशकी नट बाँस का
कदे चढ़णा कदे उतरणा हो।

नई धुनों के आविष्कारक हरदेवा ने निश्चिततः रागनी को समृद्धि प्रदान की है।

रागनी काव्य के विकास का द्वितीय चरण उसकी संरचना के स्थिरीकरण के कारण उल्लेखनीय हैं इसकी भाषा हरियाणा के लोक-जीवन की आन्तरिक अनुभवों से जुड़ी है। इस चरण तक रागनी में वस्तु-वर्णन की अधिकता है।

तृतीय चरण :

रागनी काव्य का तृतीय चरण भाव-दीप्ति के वैशिष्ट्य को लेकर आता है। इसकी मूल चेतना गीतात्मक है। काव्य-वैभव की दृष्टि से सन् 1920 से सन् 1945 तक का काल रागनी का स्वर्ण युग है। इस युग के महत्त्वपूर्ण कवि हैं -- देवीसिंह, रवीसरूप, बाजे भगत, लखमीचन्द एवं जमुआ मीर। सन् 40 के आस-पास ही मांगेराम, श्रीराम शर्मा, धनपत, छोटू लाल, झंडू मीर, खीमा, चतरू आदि अन्य अनेक कवि भी रागनी रच रहे थे। इनमें मांगेराम, श्रीराम शर्मा और धनपत का प्रदेय सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है।

यह सही है कि रागनी काव्य के तृतीय चरण के साथ ही अनेक लोक-प्रचलित कथाओं को सांगों में पिरोया गया परन्तु इस संबंध में कुछ तथ्यों को ध्यान में रखना होगा। प्रथम तो यह कि उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में समस्त उत्तर भारत में लोक-नाट्य के रूप में नौटंकी एवं सांग का प्रचलन बहुत अधिक था। बनारस, हाथरस और आगरा नौटंकी के गढ़ थे जबकि

हरियाणा में सांग का प्रचलन चरम पर था। विशेष यह है कि नौटंकी एवं सांग में प्रादेशिक विशेषताओं के कारण शैली एवं प्रस्तुति का अंतर अवश्य था पर मूलतः ये भिन्न विधाएँ नहीं थीं। सन् 1870 के आसपास उत्तर भारत में 'नौटंकी' कथा-विशेष की लोकप्रियता इतनी बढ़ती है कि वह एक लोक-नाट्य के रूप में ही रूढ़ हो जाती है और दूसरी ध्यान देने की बात यह है कि 'नौटंकी' विधा में जितनी कहानियों का मंचन हुआ वे सब रूढ़ हो गयीं और प्रत्येक ने एक ही तरह से मूल कथाओं को ग्रहण कर उनकी अंतर्भूत सामग्री में ही मौलिकता का प्रदर्शन किया है लेकिन इस अंतर्भूत सामग्री में भी मौलिकता के दर्शन नहीं होते अपितु अधिकांश कवियों ने दोहा, काफिया, दोड़, सवैया, चौबोला, टप्पा झूलना एवं रागनी जैसे रूपों का प्रयोग किया है। हरियाणवी रागनी के तृतीय चरण में निस्संदेह काव्यात्मक समृद्धि है पर समृद्धि का आधार कथानकों की मौलिकता नहीं है। कथा-रूढ़ियों का दोहराव तो बीसवीं सदी के सातवें दशक के सागों तक में देखा जा सकता है। लखमीचंद जैसे बड़े कवि के तीन-चार सांग ही कथानक की दृष्टि से मौलिक कहे जा सकते हैं। लेकिन यह सच है कि बीसवीं सदी के तीसरे और चौथे दशक में हरियाणवी सांगीत अथवा नौटंकी और रागनी का अभूतपूर्व मात्रात्मक विस्तार हुआ है। कैथीन हन्सेन की पूर्व उल्लिखित पुस्तक 'Ground For Play : Nautanki Theatre of North India' में भी इन्हीं निष्कर्षों का प्रतिपादन इस रूप में किया गया है:

Beyond Kanpur, publishers in all the major towns of Uttar Pradesh sought out popular plays and encouraged the local troupes by publishing their scripts. The IOL has a particularly large collection of Sangits for the period from 1920 to 1942. Although most were composed by minor poets, a list of the cities in which they were published gives an idea of the geographical extent of Nautanki's popularity: Ambala and Amritsar in the Punjab; Bhiwani, Hisar, and Sirsa in western Haryana; Beawar in Rajasthan; Jhansi and Jabalpur in Madhya Pradesh; south as far as Bombay; Meerut, Moradabad, Bulandshahr, and Aligarh in western Uttar Pradesh; and Lucknow, Kanpur, Etawah, Gonda, Allahabad, and Banaras in eastern Uttar Pradesh.¹

देवीसिंह हरियाणवी रागनी के तृतीय चरण के एक प्रमुख हस्ताक्षर हैं। उनका काव्य दीपचंद एवं लखमीचन्द के काव्य के मध्य-संयोजक रेखा की भांति है। 'ज्यानी चोर' की रचना उन्होंने संवत् 1983 में तथा 'ढोलामारू बाग' की रचना संवत् 1985 में की। उनके अन्य सांग भी इसी कालावधि के आसपास के हैं। इनके अधिकांश सांगों के अंत में रचनावधि का उल्लेख है। 'ज्यानी चोर' और 'ढोलामारू बाग' के क्रमशः उद्धृत अंतिम दोहे इसी का संकेत देते हैं:

1. द्वितीय चैत कृष्ण पक्ष तिथि दसमी गुरुवार
सम्मत् उन्नीस सौ तिरासी का पद कथ करै तैयार
2. सावन मास शुक्ल पक्ष तिथि अष्टमी बुधवार

¹ Kathryn Hansen, Ground for Play : Nautanki Theatre of North India, (University of California Press, 1992), p. 113

सम्मत उन्नीसौ पचासी का सांग किया तैयार

कैथीन हन्सेन ने 'ब्रिटिश-संग्रह' में ठाकुर देवीसिंहकृत सन् 1925 में सीकर/भिवानी से प्रकाशित 50 पृष्ठीय कृति 'सांगीत ज्यानीचोर महकदे हरन' का उल्लेख किया है।¹ पूर्व उद्धृत अंतःसाक्ष्य से इसकी संगति बैठती है।

देवीसिंह के सांगों का एक निश्चित प्रारूप है। इनमें दोहा, कफिया, दोड़, सवैया, एवं रागनी की क्रमशः आवृत्ति है। कहीं-कहीं दोहा व रागनी युगपत् क्रम में आए हैं, तो कुछ अंश चौबोला, टप्पा एवं झूलना में निबद्ध हैं। इस संरचना के आधार पर अनुमान लगाया जा सकता है कि उन्होंने लगभग 200 रागनियों की रचना की होगी। उनके ढोला मारुबाग में लगभग चालीस रागनियाँ हैं। देवीसिंह की रागनियाँ प्रवाहपूर्ण वर्णन शैली के कारण प्रबन्ध के अनुकूल हैं। अधिकांशतः इनमें ढाई बोल हैं। अंतरा में चौदह मात्राओं का छंद है। इनमें थोनसरी अखाड़े के भाषा-रूप को विशेष रूप से अपनाया गया है। इन रागनियों में आलंकारिकता की अपेक्षा दृश्य-बिम्ब विधान की प्रधानता है। निम्नलिखित उदाहरण से यह स्पष्ट है -

सब चौकस रहियो आ रहया ज्यानी चोर

वह चोर बड़ा है डाकी

कुछ नहीं छोड़ता बाकी

ले जाता चूल्हा चाकी

कोई मरद सूरमा पकड़ै कर गौर

अदली नै बचन उचारे

क्या डूब गए हो सारे

कोई बीड़ा ना ठाता रे

देबीसिंह कहता सुध ले नंद किसोर

देवीसिंह की किसी-किसी रागनी में टेक एवं तोड़ में अन्त्यानुप्रास का वह विधान भी मिलता है, जो आगे चल कर लखमीचन्द की अधिकांश रागनियों की विशेषता बना है। विरह की मार्मिकता का चित्रण करने वाली उनकी अग्रांकित रागनी में यह प्रवृत्ति देखी जा सकती है -

हो मेरे साजन ब्याह कै छोड़ दई पीहर में

क्यूँ ऐसा जुल्म करै

आखिर ब्याहता थारी थी

ना कोए खता हमारी थी

जै रेवा तुझको प्यारी थी

में हो जाती दासी, खासी, प्यासी को कहाँ नीर धरै,

¹ Ibid, p.290

भावज तान्ने मारै थी
बात पर बात उतारै थी
बार-बार दुदकारै थी
में करती अफसोस, रोस से नैन में जल ओस भरै,
सोच फिकर कर मरली
मोस आत्मा धरली
बिपत बहुत सी भरली
दुखी हुई जिंदगानी, जानी पटरानी के मान भरै,
जल बिन कैसा मीना सै
बालम बिन के जीना सै
देबीसिंह अधीना सै

आज हुए अनन्द, चन्द से छंद सभा में कहे खरे

देवीसिंह के कुछ सांगों का प्रकाशन भाषा विभाग, हरियाणा ने किया है पर उनका आलोचनात्मक मूल्यांकन नहीं के बराबर हुआ है।

हरियाणवी रागनी के तृतीय चरण को समृद्धि प्रदान करने में चंदू लाल के शिष्य रबीसरूप का भी विशेष योग रहा है। रबीसरूप निंदाणा गाँव के निवासी थे। 10 मार्च 2008 के 'हरिगंधा' के अंक में श्री राजकिशन नैन का 'चौबीसी में गाँव निंदाणा' लेख प्रकाशित हुआ है। श्री नैन का यह प्रयास प्रशंसनीय है कि इस लेख में उन्होंने रबीसरूप जैसे महत्त्वपूर्ण कवि पर भी प्रकाश डाला है। प्रस्तुत लेखक ने हरियाणा साहित्य अकादमी द्वारा 1996 में दादरी में आयोजित विचार-गोष्ठी में अपने शोधपत्र में रबीसरूप का काव्य-पंक्तियाँ भी उद्धृत की थीं। वास्तव में हरियाणवी कविता के इतिहास में इस कवि का बहुत कम उल्लेख हुआ है। इसलिए श्री राजकिशन नैन ने अपने लेख में इस कवि का मूल्यांकन न हो पाने के कारण जो रोष और आक्रोश प्रकट किया है, वह स्वाभाविक और उचित है पर प्रश्न उठता है -- वह मूल्यांकन करने कौन आएगा? यह तो आप को और हम को ही करना होगा। श्री नैन ने रबीसरूप की रचनाओं की अनुपलब्धता तो स्वयं स्वीकार की है। इस दिशा में उन्होंने स्वयं कितना प्रयास किया है यह हमें मालूम नहीं है? पर उनके लेख की विडम्बना यह है कि इसमें छोटी लकीर के साथ बड़ी लकीर खींचने का प्रयास नहीं किया गया है, बल्कि बड़ी लकीर को ही मिटाने की कोशिश की गई है। 'लखमी अर बाजे लेट-जाहड़ थे तो रबीसरूप समंदर था!' निंदाणा के कन्हैया का यह उद्गार, जिसे श्री नैन ने अपने लेख में उद्धृत किया है, अपने गाँव के कवि के प्रति भावात्मक श्रद्धांजलि हो सकता है पर श्री नैन को यह चिंता नहीं करनी कि लखमीचन्द की प्रशंसा में किस ने क्या कहा है। जरूरत है, रबीसरूप जैसे महान कवि के पाठ को सामने लाने की। यह एक अलग प्रसंग

है कि जिस लखमीचंद ने अपने जीवन-काल में खूब विरोध सहा था, पिछले एक दशक से गैर-साहित्यिक कारणों से उनकी निंदा फिर शुरू हो गई है।

श्री नैन ने यह अच्छी जानकारी दी है कि रबीसरूप ने दीर्घ आयु प्राप्त की और उनकी मृत्यु संवत् 1990 में (1942 के आसपास) जींद जिला के मरेहडी गाँव में हुई। रबीसरूप की प्रभावपूर्ण रागिनियाँ अध्यात्मपरक एवं नीतिपरक अधिक हैं। अपने समय की विकृतियों पर उनकी नजर थी। सामाजिक आचार के खंडित होने के दर्द को वे अनुभव कर रहे थे। इस विडम्बना को वे यों चित्रित करते हैं:

पागल पाग पिता की झटकै।

वेद विधि का पता नहीं

न्यूँए मूरख मूंडी पटकै।

उनकी कविता के अध्यात्मपरक स्वर को इन पंक्तियों में पहचाना जा सकता है:

रटना आतम ज्ञान की, डट रट रंग लगन लगेंगे

ये डगर ब्रह्म अस्थान की, ध्यानी मन मगन लगेंगे

कर आसा इमरत पान की, सूते नर जगन लगेंगे

तज हान-मान अपमान की, आसन जहाँ गगन लगेंगे

चंदू सकती भगवान की, रविसरूप दम दगन लगेंगे

आशा है भविष्य में प्रामाणिक पाठ की उपलब्धि के आधार पर रबीसरूप के काव्य का उचित मूल्यांकन हो सकेगा।

डा. शंकरलाल यादव ने 'हरियाणा प्रदेश का लोक साहित्य' के पृष्ठ 399-403 पर मानसिंह के शिष्य दुलीचंद के एक सांग के कुछ अंश उद्धृत किए हैं। मानसिंह के शिष्य होने स्पष्ट है कि वे बाजे तथा लखमीचन्द के ही समकालीन होंगे। उनकी कुछ रागिनियाँ शृंगार के माधुर्य एवं भाषा के लालित्य के कारण ध्यान आकर्षित करती हैं। एक उदाहरण देख लें:

मेरा सौरण बरगा गात

मनेँ तूँ ले चल अपणे साथ

में उठ कै रोज परभात

पती तेरी देखूँ स्यान नै

मनै बड़ी-बड़ी बिपता ठाई

जोबन बणग्या बकर कसाई

मेरी इब तक ना हुई सगाई

रोऊँ में किसकी ज्यान नै

हरदेवा के शिष्य बाजे लखमीचन्द के समकालीन ही थे पर माना जाता है कि संवत् 1993 में केवल 35 वर्ष की अवस्था में उनकी हत्या कर दी गई थी। लोक में वे बाजे भगत के रूप में

ख्यात थे। हरियाणवी रागनी को उन्होंने नया शैलिक उत्थान दिया था। दीर्घ धुनों पर आधारित बाजे की रागिनियाँ श्रोता-वर्ग में अत्यंत लोकप्रिय थीं। लखमीचंद और बाजे की प्रतिद्वन्द्विता लोक-प्रसिद्ध हैं। दोनों के बीच नाँगलोई में हुई काव्य-प्रतिस्पर्धा भी हरियाणा में चर्चा का विषय रही है। चंदकिरण, सतवंती देवी, सोरठ, हीर-रांझा, द्रौपदी-स्वयंवर, जमाल, पूर्णमल, सरणदे, ज्यानी चोर आदि सांगों में आई बाजे की रागिनियाँ मात्रात्मक विस्तार और गुणात्मकता --दोनों दृष्टियों से विशिष्ट हैं। इनमें भावात्मकता एवं रसोद्रेक की अद्भुत क्षमता है। चंदकिरण सांग की रागिनियाँ सर्वाधिक मार्मिक हैं। यह उदाहरण बाजे के काव्य-वैशिष्ट्य को स्पष्ट करता है -

दईं गेर कमंद की डोर चढ़, क्यूँ वार लगावै सै,
 रंगत देखी ना बाणे की
 जले इस जोबन जल जाणे की
 सिर पे नक्कारे घोर इश्क मनै घणा सतावै सै
 मेरा जी फंस गया तेरे में
 सच बूझै तै मन मेरे में
 उडैँ सामण बरगी लोर मेरी ना पार बसावै सै।
 बाजे कह कर ठंडा सीना
 लग्या सामण किसान महिना
 नाचै नै बण कै मोर मोरणी आँसू चाहवै सै

बाजे की रागिनियाँ लालित्य-प्रधान तो हैं ही, इनमें छंदों का प्रवाह और अप्रस्तुतों की सहजता भी विशिष्ट है। निम्न अंश इसका उदाहरण है -

धूममा आवै सै अटारी में
 धूणा ठाले हो बाबा जी
 म्हारी चंद किरण दुख पागी,
 तू कित तै आग्या निरभाग
 लगावै भगवा बाणे के दाग
 या रुक री सै नाग
 पिटारी में
 तू मत छेड़ै तनै खागी।

हरियाणवी रागनी काव्य के उत्कर्ष में बाजे का योग स्मरणीय रहेगा।

अपने जीवन काल में ही मिथक बन जाने वाले कवि लखमीचंद को निर्विवाद रूप से रागनी रचयिताओं में श्रेष्ठतम माना गया है। हरियाणा के जिस ग्रामीण परिवेश में लखमीचंद पैदा हुए थे, उसमें तब जन्म-तिथि का हिसाब रखता ही कौन था? लखमीचंद के काव्य का

अत्यन्त उल्लेखनीय संग्रह 'रत्न-कोष' प्रकाशित करने वाले श्री लक्ष्मीनारायण शर्मा के अनुसार उनकी जन्म-तिथि 15-7-1903 है तथा उनके अवसान की तिथि 17-10-1945 है।¹ उनके अवसान का निश्चित लेखा-जोखा इस लिए मिल जाता है क्योंकि तब तक वे कवि-सूर्य बन चुके थे।² डॉ० हरिश्चंद्र बंधु ने लखमीचंद के काव्य पर महत्त्वपूर्ण शोध-कार्य किया है। पहले उन्होंने एक स्थान पर लखमीचंद का जन्म 1900 में होने का उल्लेख किया था। हाल ही में उन्होंने प्रस्तुत लेखक को बतलाया है कि उन्होंने जिला सोनीपत के मुख्य चिकित्सा अधिकारी कार्यालय से कुछ वर्ष पूर्व लखमीचंद के जन्म का रेकार्ड निकलवाया था। उसके अनुसार श्री लक्ष्मीनारायण शर्मा द्वारा सूचित तिथि ही प्रामाणिक है।

अपने लगभग दो दशकों के रचना-काल में लखमीचंद ने जिन सहस्राधिक रागनियों की रचना की है, वे इस विधा का उपलब्धिपरक इतिहास निर्मित करती हैं। महान् कवि न तो परम्परा से कटता है और न अनुकरण उसका लक्ष्य होता है। वह तो सदैव परम्परा से जुड़ कर नया रचता है। लखमीचंद ने किशनलाल से लेकर दीपचंद तक प्रचलित हरियाणवी काव्य की सभी शैलियों को सूक्ष्मता से परखा था; हीरादास से लेकर देवी सिंह तक के भाषिक मुहावरे को पहचाना था और शंकरदास के पौराणिक ज्ञान को गुना था। समूची परम्परा में जो कुछ ग्राह्य था, उसे लखमीचंद ने सश्रद्ध ग्रहण किया था पर सृष्टि उन्होंने नितांत मौलिक काव्य की ही की! रागनी के इतिहास के पूर्वोक्त तथ्यपरक विवेचन से श्रद्धा-अतिरेक और भावुकता भरे वे दावे खारिज हो जाते हैं, जिनमें से कुछ में कहा गया है कि रागनी का आविष्कार एवं चलन दीपचंद ने आरम्भ किया और कुछ अन्य ने कहा है कि लखमीचन्द ने रागनी को जन्म दिया। इन दोनों कवियों से पूर्व रागनी का चलन ही आरंभ नहीं हो चुका था, इसकी एक परम्परा भी बन चुकी थी पर इसमें संदेह नहीं कि इसके विकास में लखमीचंद का योग सर्वाधिक है। लखमीचंद की विशेषता यह है कि उन्होंने रागनी के सभी संगीतपरक भेदों - सोहनी, लावनी, अर्द्धलाजवंती, मरहटी, दबंग, सारंग कालंगड़ी आदि को अपनाकर नए प्रयोग भी किए। उन्होंने दो, ढाई, तीन एवं चार बोलों की रागनियों की रचना की एवं अपनी 'डोली' की मौलिक भंगिमा का जादू समाज पर डाला। सूक्ष्म अध्ययन से यह भी स्पष्ट होता है कि उनकी रागनियों का हरियाणवी काव्य के

1 हरियाणा की लोकनाट्य परम्परा,

2 "दो की साल महिना आसुज देग्या काल दिखाई

सुकल पक्स तिथि ग्यास लई सुरग की राही।"

-- लखमीचंद के देहान्त पर देबीसिंह की एक रागिनी का अंश

सभी पूर्ववर्ती लोकप्रिय रूपों - कड़ा, चौबोला, काफिया, सवैया, खयाल, बारहमासा, टप्पा, झूलना व बहरे तबील का भी अंतर्लयन किसी न किसी रूप में हो गया है। लखमीचंद का संगीत-कौशल अद्भुत था। लय के आवर्तों के अनुकूल अन्त्यानुप्रासों का संयोजन जैसा लखमीचंद की रागनियों में है, वैसा किसी हरियाणवी कवि में तो उपलब्ध है ही नहीं, खड़ी बोली साहित्य में भी यह दुर्लभ है। उदाहरणार्थ 'पद्मावत' सांग की लगभग 70 रागनियों में उन्होंने 50 विभिन्न शैलीगत प्रयोग किए हैं। उनका आदर्श था -

'लखमीचन्द छंद का धरणा

चाहिए ठीक गाल्यम-सा भरणा।'

उनके काव्य में यह प्रयोग-वैविध्य कहीं भी पादपूर्ति-दोष से ग्रस्त नहीं है।

लखमीचंद का हरियाणवी रागनी काव्य में प्रमुखतम योग है, इसके प्रामाणिक दस्तावेज भी उपलब्ध हैं। 'इंडिया ऑफिस लंदन' में केवल दो वर्षों -- 1937 और 1939 के बीच में प्रकाशित चौदह सांग इसका साक्ष्य हैं। संयोग से उस संग्रह में लैल-मजनू और प्रह्लाद जैसे वे सांग भी हैं जो न तो 'हरियाणा साहित्य अकादमी' द्वारा प्रकाशित 'लखमीचंद ग्रंथावली' में संग्रहीत हैं, न अन्य अध्येताओं ने उनका उल्लेख किया है। इस संदर्भ में कैथीन हन्सेन का यह कथन बहुत महत्त्वपूर्ण है:

Toward the end of this period, play scripts in the distinctive style of the Haryana sang appear in the London collections, *pandit dipchand of khanda*, one of the founder of this tradition, is represented by two plays, *rani mahakde va jani chor*(1927) and *nautanki shahzadi*(1932) both published in Muzaffarnagar. The IOL contains fourteen *sangits* dated between 1937 and 1939 published by *lakhmichand*, the most famous exponent of *haryanavi sang*, these are mostly on subjects familiar to *nautanki* such as *laila majnu*, *prahlad* and *heer ranjha*. The metrical treatment is different however, the verse from *ragini* replacing the *chaubola*; the language is the local dialect, *haryanavi*. The music in *Haryana sang* is simple and resembles folk song, in contrast to the virtuosity of the *hathras swang*.¹

लखमीचंद के रागनी काव्य की विशिष्टताओं को परखने से पूर्व उनके काव्य की छंद-सापेक्ष स्थिति पर टिप्पणी अनिवार्य है। यह सही है कि लखमीचंद ने पिंगल-शास्त्र का अध्ययन नहीं किया था। वर्ण, अक्षर एवं मात्राओं का विधिवत् विश्लेषण भी उन्होंने नहीं सीखा था परन्तु जैसा कि पहले कहा गया है, छंद की पूर्णता एवं निर्दोषता के प्रति उनका एक निजी दृष्टिकोण था। यह दृष्टिकोण उनकी कई रागनियों के अंत में निरूपित है। वे छंद के गढ़ने को हँसी-खेल नहीं मानते थे। वे अपने छंद को पूर्णता प्रदान करते थे। उनके इन आत्म-वक्तव्यों में दो बातें स्पष्ट हैं। एक तो वे छंद को प्रायः काव्य-मात्र से अभिहित करते हैं, दूसरे छंद की पूर्णता का

¹ Kathryn Hansen, *Ground for Play : Nautanki Theatre of North India*, (University of California Press, 1992), p. 113

आधार वे संगीत को मानते थे। यह 'साज पर डोली पड़ने' के उनके वक्तव्य से स्पष्ट होता है। लखमीचंद का काव्य आज हमारे सामने डॉ० पूर्णचंद शर्मा द्वारा संपादित हरियाणा साहित्य अकादमी के प्रकाशन 'लखमीचंद ग्रंथावली' तथा श्री लक्ष्मीनारायण शर्मा द्वारा संपादित 'रत्न-कोष' के रूप में विद्यमान हैं पर अब तक भी उनकी रचनाओं का पूर्ण, मूल एवं निर्दोष पाठ प्रामाणिक रूप से उपलब्ध नहीं है। श्री लक्ष्मीनारायण शर्मा ने लखमीचंद से प्रत्यक्षतः जुड़े स्रोतों के आधार पर संग्रहीत सामग्री को पाठ की दृष्टि से 'प्रामाणिकता की पराकाष्ठा' बतलाया अवश्य है पर इस संग्रह को भी पूर्णतः संतोषजनक नहीं कहा जा सकता। हाँ, हरियाणवी कविता पर हो रहे विवेकहीन उपाधि-सापेक्ष 'शोध' पर उनका उँगली उठाना सही है। अनेक तथाकथित विद्वानों ने लखमीचंद के सांगों की ऐसी अंधाधुंध सूची प्रस्तुत कर दी है, जिसमें उन सांगों का भी उल्लेख है, जो लखमीचंद के थे ही नहीं। हरियाणा साहित्य अकादमी के प्रकाशन 'लखमीचंद ग्रंथावली' पर भी श्री लक्ष्मीनारायण शर्मा की प्रक्षेपणों से संबंधित आपत्ति पर विचार किया जाना चाहिए। इसमें हरियाणवी शब्दों का अनावश्यक रूप से तत्समीकरण भी उनकी सहजता को समाप्त करता है। श्री लक्ष्मीनारायण शर्मा ने लखमीचंद के नाम पर अप्रामाणिक रागनियों की जो सूचियाँ स्थान-स्थान पर अपने 'कोष' में दी हैं, उनकी 90 प्रतिशत रागिनियाँ तो निस्संदेह लखमीचंद की नहीं हैं और वे अप्रामाणिक हैं परन्तु इन सूचियों की कुछेक रागिनियाँ ऐसी हैं, जो परम्परा, शिल्प और भाषा-शैली के आधार पर लखमीचंद की मानी जा सकती हैं और उन पर पुनर्विचार होना चाहिए। वास्तव में लखमीचंद के काव्य की प्राप्ति के जितने भी स्रोत आज हमारे पास बचे रह गए हैं, उन सभी स्रोतों की अपनी-अपनी सीमाएँ हैं। कहीं-कहीं तो संग्रहकर्त्ताओं की अज्ञानता ने उसके स्वरूप को इस रूप में विकृत कर दिया है कि उसमें छंद-स्खलन स्वाभाविक हो गए हैं। अतएव आज यदि लखमीचंद की रागनियों में यत्र-तत्र छंद-दोष नजर आते हैं या पिंगल के नियमानुसार वे शास्त्रीय छंद प्रतीत नहीं होते या उनमें ऐसी अन्य विसंगतियाँ नजर आती हैं तो बहुत दूर तक इसका उत्तरदायित्व इनके संग्रहकर्त्ताओं पर है, अन्यथा भाषा का इतना सशक्त प्रयोग करने वाला वह कवि जो स्थान-स्थान पर छंद की पूर्णता की बात करता है, त्रुटिपूर्ण छंद नहीं रचता।

लखमीचन्द द्वारा रचित सेठ ताराचंद, पद्मावत, मीराबाई, शाही लक्कड़हारा, नल-दमयन्ती, पूर्णमल, हरिश्चन्द्र, चापसिंह आदि सांगों में संग्रहित रागनियों के अतिरिक्त शताधिक प्रबन्ध-निरपेक्ष रागिनियाँ भी उपलब्ध होती हैं। उनके काव्य की सर्वोपरि विशेषता है- इसकी रसप्रवणता! वेदना, प्रेम और अध्यात्म उनके काव्य के प्रमुख पक्ष हैं अर्थात् करुण, शृंगार एवं शांत इसके अंगी रस हैं। सांगों को वर्णनात्मकता से तन्मय गीतात्मकता तक लाने का श्रेय लखमीचन्द की रागनियों को ही है। पात्रों के अन्तर्द्वन्द्व एवं मनोवेग की मार्मिक अभिव्यक्ति इनमें है। कर्त्तव्य-बोध के द्वन्द्व से ग्रस्त चन्द्रगुप्त जब धर्ममालकी को टापू में छोड़ देता है, तो समुद्र

के अनन्त विस्तार में, यात्रा की निःसंगता में वातावरण की निस्तब्धता में धर्ममालकी की स्मृति आने पर चन्द्रगुप्त का यह आत्म-मंथन मार्मिक है -

हुचकी आई गोरी की याद की
जैसे तेग दुधारी फौलाद की
लगी काटण, चाटण, बाँटण ध्यान नै चुफेरै
में तनै हरगिज भी नाँ त्यागता
बेईमान छोड़ दिया जागता
तू पडकै सोगी, खोगी, होगी, झूठी भांती-सी मेरै।
हो गया फासला घणी दूर का
उस धर्ममालकी हूर का
कर इंतजाम, तमाम, राम जी दी छोड़ भरोसै तेरै,
फेर मिलण की आस ना
न्यू कहण आला तेरै पास ना
तज रोवा पीट्टी, मिट्टी, घिट्टी काट कै मत गेरै
कह लखमीचंद दिन रात नै
के भूलूँ सू उस बात नै
मुख खोल्ले, बोल्लै डोल्लै जाणु कोए फूल से बखैरै

हरिश्चन्द्र के मार्मिक कथानक को सैकड़ों कवियों ने काव्यबद्ध किया है, पर लखमीचंद की-सी भावावेगमयी अभिव्यक्ति कम में ही देखी गई है। निम्न पंक्तियाँ वेदना-विह्वलता का बेजोड़ चित्रण करती हैं -

बेटे आला किला टूट गया टूटी पड़ी किवाड़ी रहगी
चीर नै ले कै राजा चल दिया राणी सपट उघाड़ी रहगी
रोण नै होगा बूँभ फूट के
फिकर नै खा लिया गात चूँट कै
आवण लाग्या साँस टूट कै
उसीए चलती नाड़ी रहगी।
रानी धोरै तै टलती बरियाँ
डह पड़्या होता सिंभलती बरियाँ
लिकडियो बेसक जलती बरियाँ
पेड़ में गड़ी कुल्हाड़ी रहगी।

'हरिश्चन्द्र के मन-प्राण वेदना से बिंध गए हैं। इस वेदना का निष्क्रमण अब शरीर के जलने के साथ ही संभव है' -- इस प्रस्तुति के लिए 'बीटा टूटी पेड़ में गड़ी कुल्हाड़ी' का अप्रस्तुत

अनुपम है। कई बार तो लखमीचन्द ने पूरे के पूरे पौराणिक संदर्भ को ही अद्भुत रूप में अप्रस्तुत बना दिया है, यथा -

में दुखिया फिरूँ सूँ कँगाल
मेरे तै के मतलब थारा
पकड़ मनै कित ले जाओगे
बेटा वरुण देवता पै लिया
नहीं मौके पै उलटा दिया
किया हरिचंद नै कोड कमाल
मरवाणा ब्राह्मण सुत धार्या
के उसी बली चढ़ाओगे।

यहाँ 'के उसी बली चढ़ाओगे' की लकड़हारे की आशंका पुरा-बिम्ब के सहारे अद्भुत मार्मिकता पा गई है। अप्रस्तुत-विधान में एक पूरे कथा-प्रसंग को समाहित कर कवि ने सर्जनशीलता का एक मानक प्रस्तुत किया है।

विपुल काव्य-रचना करने वाले किसी भी कवि की प्रत्येक पंक्ति श्रेष्ठ नहीं हुआ करती। लखमीचन्द की भी नहीं है, परन्तु उनका 'दोष रहित दूषण सहित' श्रेष्ठ काव्य भी मात्रा में कम नहीं है। नाटकमय होना उनके काव्य की रूपगत अनिवार्यता थी। अनेक रूढ़ कथाओं को भी उन्होंने सांगीत-निबद्ध किया है पर उनकी रागनियाँ एक धरातल पर पहुँचकर राजा, देवता या महापुरुष से असम्बद्ध-सी हो जाती हैं, वे केवल जन से जुड़ जाती हैं। लोक-मानस एवं जनभाषा का प्रतिबिम्बन उनकी प्रमुख विशेषता बन जाता है। साहित्य में समकाल इसी रूप में प्रतिबिम्बित होता है।

लखमीचंद ने रागनी के शिल्प-तंत्र को अपने अद्वितीय संगीत-ज्ञान के आधार पर जो वैविध्य एवं लालित्य प्रदान किया है, वह उनकी अमरता का आधार है। उनका तुक-विधान तो अनुपम है। यों दुनिया के किसी भी काव्य-शास्त्र में तुक को काव्य-श्रेष्ठता का एकांत मानदण्ड नहीं माना गया है पर लखमीचन्द ने तुक को गहरी मनोवैज्ञानिक समन्वित्ती के रूप में देखा है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपने 'देवदारु' निबन्ध में तुक की मौलिक व्याख्या करते हुए इसका आधार अगरे-बगरे जैसा ध्वनि-साम्य न मानकर अर्थगत समानता को माना है। लखमीचन्द ने भी तुक को केवल आनुप्रासिकता से न जोड़कर इसका आधार भावगत साम्य माना है। परिणामतः यदि उनके काव्य में दो पात्रों के दृष्टिकोण को प्रस्तुत करने वाली एक साथ दो रागनियाँ हैं, तो उन्होंने दोनों का छन्द एवं यति विधान ही समान नहीं रखा है, उनकी भाषा-शैली एवं मिथक निर्वाह भी समान हैं। जिस शैली में वे चन्द्रगुप्त के परिताप को व्यक्त करते हैं, धर्ममालकी की वेदना को भी उसी साँचे में ढालते हैं। एक रागनी की टेक, कली और तोड़ में अन्त्यानुप्रास का जो स्वरूप बन जाता है, उसे वे शेष कलियों में भी निभाते हैं। विशेष यह है कि

यह अत्यन्त असहज साधना पाठक को नितांत सहज एवं निरायास लगती है। कहीं अर्थगत विसंगति नजर नहीं आती। उनकी रागनियों में यति एवं अन्त्यानुप्रास के प्रयोग वैविध्य से जन्य लय के आवर्त्तो को दिखलाने के लिए कुछ उदाहरण यहाँ प्रस्तुत करना अपेक्षित है -

- (क) कहियो री उस नौटंकी गौरी नै,
राजा की छोरी नै
एक आस्यक रोवै तेरी ज्यान नै
दान पुन जाणूँ कद आज्याँ आडी
ह दिए वो हीणा तू ठाडी
धँसरी गार्या मै गाडी
मुश्किल होरी सै धोरी नै
जाणूँ कद चालैगी जीत मदान नै
- (ख) लडका तै ना लेणा चहिए
बदलै में दुख खेणा चाहिए
माँगै सौ दे देणा चाहिए
पिया काम चलावण नै
कर दे दूर जिगर के धडके
तनै में भेद बता दूँ जड के
इस लडके तै के माया बरसै गी
दूणी बेसरमी दरसै गी
दयावती बहना तरसै गी
पूत खिलाहवण नै
- (ग) अरी तबीयत मानै तेरी, सुन ले अरज मेरी, बस रो ली भतेरी
जरा दिल को थमा तू
सबर कर सबर ये दुख सबसे जबर मुझ को ना थी खबर
है इस मुरदे की मा तू
- (घ) दिन लिकइया पीली पटी
चलने की सुरती रटी
ना डरते, फिरते, करते सैल बण की रै
ताल नीर के भर रहे
ऊपर कै भौरे पि र रहे
बड़ा शोर अनन्द का कर रहे

खुशी दिल में, पल में, जल में
झलक जिनकी रे

(इ) ब्याहली बहू ने ले के चला
चलता किया था जहाज
झिमाझिम हो रही पाणी पै
उनकी न्यजर मिलें थी कैसे
दोनों बात करण लगे ऐसे
जैसे अम्बर में करके कला
झगड़ रहे दो बाज
तीसरी एक ज्यान विराणी पै।

(च) राणी रोण लगी बेजार जब पास पती पाया ना
में डूब गई मझधार खिवैया रहया सहाया ना
क्यू हाँसो रे तुम फूल
झूल रहे किसे नसे में टूल
या से थहारी बडी भूल
धूल ने एक दिन करो कबूल
दुखी की रूल ना होई थारे पार थहारा हँसणा मुरझाया ना

(श्री लक्ष्मीनारायण शर्मा द्वारा संपादित 'रत्न-कोष' में 'नल-दमयन्ती' सांग में यह रागनी नहीं हैं, पर इसकी शैल्पिक संरचना इसके लखमीचन्द द्वारा रचित होने का ही संकेत देती है।)

इन उद्धरणों के रेखांकित शब्द रागनी की टेक, कली और तोड़ का एक अलग-अलग पैटर्न प्रस्तुत करते हैं और प्रत्येक में आगे इसी पैटर्न का निर्वाह है।

लोक में प्रचलित उक्ति 'जो गाणा था लखमीचन्द गा गया' उनके रागनी काव्य का सम्यक् मूल्यांकन प्रस्तुत करती है। परवर्ती कवियों ने लखमीचन्द के शिल्प का अनुकरण तो किया है पर वे उसे नई दिशा नहीं दे पाए। तृतीय चरण का रागनी की विशिष्ट उपलब्धि लखमीचन्द का काव्य ही है।

चतुर्थ सोपान

1945 में जब लखमीचंद का देहान्त हुआ, तब हरियाणवी रागनी काव्य अपने चरम उत्कर्ष पर था। गाँव-गाँव में सांगियों और भजन-मंडलियों की टोलियाँ उनकी रागिनियों की तो प्रस्तुति कर ही रही थीं तब मांगेराम, श्रीराम शर्मा एवं धनपत सिंह भी मौलिक लेखन के साथ

उपस्थित हो चुके थे। लगभग इसी समय मेहरसिंह फौजी का आगमन होता है। रागनी के चतुर्थ चरण का प्रवर्तन इन्हीं कवियों के साथ होता है। तीसरे चरण में भी लगभग एक दशक तक रचनारत रहने वाले कवि मांगेराम की सर्जन-यात्रा परवर्ती दो दशकों तक -- सन् 1968 तक -- चलती रहती है। चौथे-पाँचवें दशक में ही धनपत सिंह का आगमन हो चुका था। धनपत ने 'लाहौर' फिल्म पर आधारित लीलो-चमन सांग से रागनी काव्य को फिल्मों की ओर मोड़ दिया। दीपचन्द की शिष्य परम्परा में इस काल के आरम्भ में भरतू, चतरू एवं छोटूलाल ने भी रागनी-शिल्प में कई परिवर्तन किए। हुकमचन्द, बनवारी, सुलतान, चंदन, मुन्शीराम, मंगलसिंह, भीष्म, माईराम, रघुनाथ, बुल्ली जैसे कवि जहाँ लखमीचन्द की शैली से जुड़े रहे हैं, वहाँ इनकी रागनियों में नए प्रभाव भी स्पष्ट हैं। भीष्म आर्य समाजी भजनीक थे। हरियाणवी एवं खड़ी बोली का मिश्रित रूप प्रस्तुत करने वाली उनकी रागिनियाँ अंजना सांग में उपलब्ध होती हैं पर काव्य सौन्दर्य की दृष्टि से यह साधारण रचना है। यही स्थिति माईराम की रचना 'उदयभान संतोष कुमारी' की है।

आयुक्रम में पण्डित मांगेराम अपने गुरु लखमीचन्द से दो-तीन वर्ष ही छोटे थे, परन्तु रचनाक्रम में वे उनके परवर्ती थे। हरियाणवी रागनी काव्य को लखमीचन्द के बाद मांगेराम ने ही नया मोड़ दिया है। उन्हें ध्रुवभगत, कृष्ण जनम, खाण्डेराव परी, भरथरी-पिंगला, शकुन्तला-दुष्यन्त एवं नौरत्न सांगों की रागनियों के आधार पर विशेष ख्याति मिली है, यों इनके अतिरिक्त भी उनके कई सांग हैं। मांगेराम ने नवीन अप्रस्तुत-विधान के बल पर लखमीचन्द की परम्परा से जुड़कर भी मौलिक काव्य-प्रवृत्तियों का परिचय दिया। उनकी उपमाएं ग्रामीण जीवन से गहरे जुड़ी हैं। लखमीचन्द के काव्य में आए जो पौराणिक संदर्भ जन-सामान्य को दुरूह प्रतीत होते थे, उन्हें मांगेराम ने सरलतर रूप में प्रस्तुत किया। रागनी की प्रथित शैली को अपनाकर उन्होंने नए प्रयोग भी किए। निम्न उदाहरण से यह स्पष्ट है -

गंगे जी तेरे खेत में
गडे री हिंडोले चार
श्री रुकमणी झूलती
श्रीकृष्ण जी झूल रहे।

मांगेराम ने अपनी रागनियों में समाज में व्याप्त विसंगतियों से जन्म लेने वाले अन्तर्द्वन्द्वों एवं मानसिक घात-प्रतिघात का सुन्दर चित्रण किया है। सौत एवं विमाता की समस्या समाज में बहुत व्यापक है। ध्रुव भगत की एक रागनी में मांगेराम ने इसका मार्मिक चित्रण यों किया है -

हथनापुर तै डोले आगे
समझूं था दिन सौले आगे
उमर बडेरी धोले आगे
इब थाम जात बिगाड़ो गी।

पारिवारिक कलह, अवैध सम्बन्ध और देवर-भाभी के विवाद का निरूपण 'भरथरी-पिंगला' में जिस शैली में हुआ है, यह ग्रामजनों को किसी राजा की कहानी की अपेक्षा अपने आसपास के समाज का चित्रण ज्यादा लगता है। विक्रम का यह कथन ऐसा ही है -

विकरम देख-देख कै डर लिया
क्यूँ तनै पेट जहर तै भर लिया
किसा तुम्बा-सा मुँह, कर लिया
भाभी चोर की तराँ।

मांगेराम ने 'कृष्ण जन्म' की रागनियों में संवेदना और शिल्प का श्रेष्ठ समन्वय किया है। इन करुणा-व्यंजक रागनियों का लय विधान नवीन एवं विषय-सापेक्ष है। निम्न अंश की मार्मिकता इसका प्रमाण है -

उग्रसेन के कंस, मिटैगा वंश, मनै दुख दे या
रोवै सै खड़्या दूर भणोई तेरा।
हाथाँ नै टुक डाट, केस गए पाट, हुई लाचारी
मां की जाई बाहण रोवती थारी।
ब्राहमण मांगेराम बोलता थारा उतर गया चेहरा।

'गैराँ के दुख दूर करण आले' 'वीर विकरमाजीत' सांग की रागनियों की प्रवाहमयता भी अनूठी है। मांगेराम की उत्कृष्ट अप्रस्तुत-योजना के कुछ उदाहरण हैं - 'सूखे धानाँ पाणी आज्या हटकै फेर हरे होज्याँ', 'मांगेराम साँझला कोल्हू घर-घर छोल रहें जा सै', 'किसे टेढ़े कर लिए कान भाभी मोर की तराँ', 'बैत की तरियाँ दोलड़ करकै मोड़या करूँ बटेउआँ नै', 'बिना सिंगा के बैल बटेउ नाथ घला मत ना फडकै' तथा 'और देस नै मोती चुग लिए में खाली रेत पिछौड़ूँ सूँ।' काव्य-सौन्दर्य की दृष्टि से रागनी साहित्य के इतिहास में लखमीचन्द के बाद मांगेराम का ही स्थान है।

श्रीराम शर्मा का जन्म 1907 में भैंसरू कलाँ में हुआ पर उनका रचना-कर्म बली ब्राहमणान (त. गोहाना) में गऊशाला हेतु प्रचार के रूप में आरम्भ हुआ। यों तो उन्होंने भी उन्हीं पारम्परिक सांगों की रचना की है, जिनका क्रम बीसवीं शताब्दी के आरम्भ से चल रहा था पर उनके काव्य की दो बहुत बड़ी विशेषताएँ हैं, जो उन्हें अन्य हरियाणवी कवियों से अलग करती हैं। एक तो उनके काव्य में प्रगतिशील तत्त्वों की प्रचुर उपस्थिति है, दूसरे सामयिक घटनाओं और विषयों का समावेश उनकी रागनियों में विशेष रूप से हुआ है। यथार्थ के प्रति जितनी सजगता श्रीराम शर्मा के काव्य में दिखलाई देती है, उतनी अन्य रचनाकारों में उपलब्ध नहीं होती।

श्रीराम शर्मा ने किसान के जीवन की विडम्बनाओं का जो चित्रण किया है, वह हरियाणवी काव्य में दुर्लभ है। निम्नलिखित उदाहरण से यह स्पष्ट है:

पच-पच कै दिन रात कमाया, फेर भी भूखा सोया

जर्मीदार तेरा हाल देख कै मेरा जीवड़ा रोया
जेठ, साढ, भादों की धूप में तेरा बदन जला रे
माह-पौह में पाणी बाह्या, कोल्हू में रहा खला रे
आई बारी भरौटा भारी डिग गया तेरा नल रे

स्वतंत्रता के साथ पूरे देश में आशा की नई किरण फूटी थी। तब एक सपना जगा था कि किसान जीवन बदल जाएगा। भले ही यह आशा अंततः एक दुराशा ही सिद्ध हुई हो तथापि उस प्रगति का एक स्वर कविता में फूटा था। श्रीराम शर्मा ने उस सपने को प्रभावपूर्ण अभिव्यक्ति दी है। इस संदर्भ में उनकी ये पंक्तियाँ देखी जा सकती हैं:

भारत के नर नारी जरा कान करिये।
बदल गया ढंग अर जमाना ध्यान धरिये।
टूटे लीतर पाटे वस्त्र गात उघाड़ा था
गैर मुलक की करी गुलामी कोड पुवाड़ा था
आमदनी कम खर्चा ज्यादा जी नै खाड़ा था
निरे दिए लगान टैक्स तेरा कूढा माड़ा था
इब महान आत्मा गांधी के गुणगान करिये।

श्रीराम शर्मा ने हरियाणा के अशिक्षित समाज की विडम्बना को भी पहचाना था और शिक्षा की आवश्यकता पर बल देते हुए लिखा :

सारी कौम तरक्की करगी लडकै और झगड़ कै
अविद्या के मनुष देख कै मेरा कालजा धडकै
बिन विद्या इस आदम देह में नहीं जन्म माँ दे
पढे लिखे बिना समझ सकै ना ऊँच-नीच कादे
कोन्या बणै ज्वाब अकलबंद खूँट चना फाह दे
राग-द्वेष केस सत्रु कोए अर्जी भी जा दे
थाणा अर तहसील अदालत देख-देख फडकै

लोकप्रियता की दृष्टि से मेहरसिंह फौजी की रागनियों की भी बहुत धूम रही है पर उनकी अधिकांश रागनियाँ लखमीचन्द्र का अनुकरण प्रतीत होती हैं। उनके द्वारा रचित 'अंजना' सांग की रागनियाँ बहुत प्रसिद्ध रही हैं। अपनी कुछ रागनियों में मेहरसिंह ने फौज के अनुभवों का मार्मिक चित्रण किया है। हरियाणा के देहात का सेना से मजबूत रिश्ता रहा है। संयुक्त परिवारों से एक जमाने में कोई-न-कोई युवक सेना को आजीविका के लिए चुनता ही था। फौज छुट्टी न मिलने अथवा छुट्टी काट कर चलने के करुण क्षणों का चित्रण मेहरसिंह की रागनियों में देख जा सकता है।

बिस्तर बांध कै चाल पड़्या, ज्यब याद हाजरी आई।

मेरे फिकर मैं मेरी बहू नै, रोटी भी ना खाई
दो दिन रहगे छुट्टी के, मेरा घी पीपी मैं डाल्या
छोट्टे भाई नै ठाया बिस्तरा, मेरै आगै-आगै चाल्या

फौज़ के अनुभव पर आधारित उनकी "देश कै ऊपर ज्यान इहोक दी लिख चिट्ठी में गेर दियो" तो अति चर्चित रागनी है ही।

मेहरसिंह ने हरियाणवी रागनी की एक चिर परिचित शैली -- सूक्ति-कथन -- को भी अपनाया है। इस तरह की उनकी एक रागनी का एक अंश यहाँ उद्धृत है:

रस बिन इश्क, इश्क बिन आश्यक आश्यक बिन संसार नहीं
शरम बिन लिहाज लिहाज बिन मतलब मतलब बिन कोए यार नहीं
धन बिन दान दान बिन दाता दाता बिन जर सून्ना है
धन बिन दान दान बिन दाता दाता बिन जर सून्ना है
रन बिन शूरा शूरा बिन तेगा तेगा बिन घर सून्ना है
तप बिन कर्म कर्म बिन किसमत किसमत बिन नर सून्ना है
हठ बिन हार, हार बिन हाणी हाणी बिन हुशियार नहीं...

कहना कठिन है कि मेहरसिंह ने 'ताराचंद' के कथानक पर पूरे सांग की रचना की है अथवा नहीं, उनकी एक-आध रागनी पर भी उपलब्ध होती है।

धनपत सिंह की रागनियों की विशेषताएँ इनका चित्रण-कौशल, वातावरण की प्रस्तुति एवं दृश्य-विधान है। समकालीन कल्पित कहानियों के अतिरिक्त पूर्व प्रचलित किस्सों पर लगभग दो दर्जन सांग रचे जिनमें कई सौ रागनियाँ संकलित हैं। भले ही वे लखमीचन्द या मांगेराम जैसी काव्य-समृद्धि न दे सकें हों तथापि उनके काव्य में अनेक अंश बहुत मार्मिक बन पड़े हैं। यथा-

बण टोहे, बिरवे टोहे टोह लिए सब रूख
बणदेवी मने पाई कोन्या मेरे कालजे का टूक
जेठ साढ़ की घाम पड़ै सै लू चलती बड़ी भारी
कोए नहीं साथी मेरा रोऊँ दे किलकारी
हो रही इसी लाचारी फिकर मैं लिया कालजा सूख।

धनपत सिंह की एक विशेषता यह है कि श्रीराम शर्मा की तरह उन्होंने किसान की उस व्यथा-कथा का चित्रण अपनी रागनियों में किया है जिसे अनेक सांगियों ने भक्ति, नीति और शृंगार के प्रवाह में नज़र-अंदाज कर दिया था। उनकी एक ऐसी रागनी का एक अंश इस प्रकार है:

किसान की मुसीबत नै जाणै सै किसान
लूट-खसोट मचावणियाँ तू के जाणै बेईमान
ऊँची-ऊँची बाड़ करैं और खोद हम खाई दें
म्हारे खून के कतरे के दाणे बणे दिखाई दें

उन दाण्याँ नै तूँ लेज्या हाम बस माल-उघाई दें
जमीदार की मौत हुया करै चौगुणा लगान

स्वतन्त्रता के पश्चात् आधुनिकीकरण और शिक्षा-प्रसार के कई धनात्मक प्रभाव हरियाणा के ग्राम जीवन पर पड़े हैं पर इसी युग में कुछ अपरिहार्य विसंगतियाँ भी उभरी हैं। उच्च शिक्षा प्राप्त वर्ग की लोकपरक साहित्य के प्रति अरुचि उभरने लगी है। उधर जीवन के हर क्षेत्र में साधना का मूल्य घटने लगा है। इस काल में अर्द्धशिक्षित समुदाय सांगों से जुड़ता है, वह अधकचरे आधुनिकीकरण के प्रयास में रागनी को फिल्मों के अकलात्मक अनुकरण एवं अश्लीलता की ओर धकेल देता है। इस युग में रागनी को मात्रात्मक विपुलता तो मिली पर गुणों का स्पष्ट हास हुआ है। आजकल जहाँ मुद्रण की सुविधा बढ़ी है, वहाँ इलैक्ट्रॉनिक यन्त्रों का चलन भी बढ़ा है। रागनी इन माध्यमों से प्रस्तुत हुई है। इसी युग में आकाशवाणी के दिल्ली एवं रोहतक केन्द्रों से रागनी के प्रचुर-प्रसार ने इसे असीम लोकप्रियता दी। दो दशक पूर्व 'कंपीटीशन' सांगों के स्थानापन्न बनकर आए पर इनमें स्तरीय रागनियों का अभाव रहा।

स्वातंत्र्योत्तर युग के सभी रागनी रचयिताओं का उल्लेख यहाँ सम्भव नहीं। इस युग के प्रमुख कवि हैं - रामकिशन व्यास, चन्द्रदत्त बादी, हरिकेश, जगदीश शर्मा, महावीर, जगत सिंह, तुलाराम, जयनारायण, टेका, भारत भूषण सांघीवाल, रामानन्द, प्रहलाद शर्मा, कुन्दनलाल, पूरणचन्द आजाद आदि।

अधिकतर चार चरणों की चार कलियों वाली रागनियाँ रचने वाले रामकिशन व्यास को छठे दशक में विशेष ख्याति मिली। उत्तर-प्रत्युत्तर शैली में युगल रागनियों की उन्होंने अधिक रचना की। लगभग 12 सांगों के अतिरिक्त स्वतन्त्र रूप में भी उनकी रागनियाँ उपलब्ध हैं। व्यास की रागनियों में प्राप्त लय-वैविध्य के आधार पर इन्हें बड़ा देश, छोटा देश, लावणी, जगाधरी, थानेसरी, दौड़, सोहनी आदि वर्गों में बाँटा जा सकता है। इनके चर्चित सांग हैं - 'कम्मो कमलेश' एवं 'रूपकला जादू खोरी।' ईश्वर की सर्वव्यापकता, साम्प्रदायिक सौहार्द एवं आत्मज्ञान का प्रतिपादन उनकी रागनियों में विशेष रूप से हुआ है। धनपत के 'लीलो-चमन' की कभी धूम मची थी। 'कम्मो कमलेश' का कथानक भी भारत-पाक विभाजन से जुड़ा है। कवि ने साम्प्रदायिक विद्वेष से उत्पन्न विनाश का चित्रण यों किया है -

चढ़गी गरदिस सहस कटे आपस में भाई-भाई,
बखत कसूता, पाट गए थे न्यारे मरद लुगाई
लाशां के ऊपर चाल्लै थी सरकारी मोटर लारी।।

सन् '60 के बाद के रागनी-काव्य में साहित्यिक उत्कर्ष का अभाव नजर आता है। रामकिशन व्यास ने फिल्मी धुनों का अनुकरण शुरू कर ही दिया था। चन्द्रलाल भाट उर्फ 'बादी' ने तो जैसे उन्हीं पर अपना ध्यान केन्द्रित कर दिया था। नए जमाने की हवा में उन्हें

लोकप्रियता भी मिली। नए एवं पुराने कथानकों पर रचे लगभग 25 सांगों में बादी की अनेक रागनियाँ हैं, पर इस परिमाणधिक्य में लखमी की परम्परा का विकास नहीं अपितु उसका हास अधिक है। उनके काव्य में कहीं-कहीं शाब्दिक चमत्कार की झलक है। यथा 'कीचक वध' प्रसंग में जब द्रौपदी का वेश धारण कर कीचक से भिड़ता है, तो उसका ध्वन्यात्मक अंकन विशिष्ट बन पड़ा है -

बदल कै नया विचार धार रहा भीम दूसरा ढंग
फैंक कै साड़ी देह उघाड़ी पीसी जाड़ी करड़-करड़
ताकत तोली, धरती डोली बाही बोली चरड़-चरड़
पां ठाए, सेरवे मडक्काए, पोवे टूटे जरड़-जरड़
खम कूटे तो बम से फूटे रूख से टूटे अरड़-अरड़
फटा झरड़-झरड़ नीवार नाहर नै दिया तोड़ पलंग।

स्वातन्त्र्योत्तर काल में हरिकेश पटवारी, जगदीश शर्मा, पण्डित रबी सरूप एवं भारत भूषण सांघीवाल की प्रबन्ध-निरपेक्ष रागनियों का विशेष महत्त्व है। हरिकेश एवं जगदीश की रागनियों में लोकानुभव की गहनता है। 'अनपढ़ कानूनगो बणगे रहा हरीकेश पटवारी क्यूं' जैसे उक्तियों में युगीन विसंगतियों का चित्रण है। जगदीश शर्मा की एक लोकप्रिय रागनी है -

किस-किस के दुख दूर करूं या दुनिया दुखी फिरै राणी
सुख थोड़े दुख घणे जगत में भोगें कष्ट सरै राणी

भारत भूषण सांघीवाल की रागनियों में देश-प्रेम समाज-सुधार एवं विकास का चित्रण है। इन्होंने जहाँ अनेक विकास-प्रतिपादक विषयों की फुटकर रागिनियाँ रची हैं, वहीं स्वतंत्रता-संग्राम और देशभक्तों के जीवन पर आधारित नई पद्धति के सांगों में भी आधुनिकता-मंडित रागिनियों का समावेश किया है। ऐसी एक रागनी का उदाहरण नीचे दिया जा रहा है:

गुलामी की जिंदगी तै, आच्छा हो सै मर ज्याणा
मलिन आतमा हो, पड़ता रै, कदम-कदम पै दुख ठाणा
या सबतै बुरी बिमारी, आजाद कराओं देस नै।
'काला इडियट' कह कै बोलें, करें इज्जती गोरे रै
म्हारे देस पै राज करें, हम नौकर उनके होरे रै
लानत हम पै भारी रै, आजाद कराओं देस नै।

भारत माता रोती कसर कोन्या अत्याचार में
मँहुह दिखावण लायक ना हम किते भी संसार में
सबतरियाँ होरी हारी, आजाद कराओं देस नै।

समकालीन राष्ट्रीय संदर्भों जूड़ी रागनियों के रचयिताओं में तारादत्त विलक्षण का विशेष स्थान है। स्वतंत्र भारत की नयी हवा में लोक-जीवन का बहुत ही प्रभावशाली चित्रण तारादत्त

विलक्षण की रागनियों में प्राप्त होता है। हरियाणा रागनी को अपने युग का गीत बनाने में इस कवि का विशेष योग है। कवि विलक्षण की इस विलक्षण रचना ने हरियाणा में बहुत ख्याति अर्जित की है:

गंगा जी के प्यार में, सरस्वती कंठार में

जमना-घागर में, म्हारा बसै देस हरियाणा सै

जनमजात सैं पूत कमाउ , सभी पुरुष अर नारियाँ

खून-पसीना सींच-सींच कै, भर दें सैं ये क्यारियाँ

लहलावैं आड़ै खेत सुनहरी, खिल उठैं फुलवारियाँ

कर्मठ सैं मजदूर आड़ै के उ ँचे भवन अटारियाँ

अन-धन के भंडारों में, नेते की गुज्यारों में

चुड़ले की झनकारों में, म्हारा बसै देस हरियाणा सै

देश-प्रेम विलक्षण जी के काव्य का प्रमुख स्वर है। उनके काव्य की प्रवृत्तियों की परिचायक उनकी ऐसी पंक्तियाँ हैं:

के गुण गाऊँ माटी का

तिलक लगाऊँ माटी का

मेरे देश की माटी तुझ पै मुझको स्वाभिमान सै

रागनी-साहित्य की दीर्घ यात्रा में अनेक पड़ाव आए हैं। अपने प्रत्येक सोपान पर यह काव्य हरियाणा के लोक-मानस को पूर्णतः प्रतिबिम्बित करता है। समाज की संरचना एवं जीवन-मूल्यों के निर्धारण में इसकी महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। सांगों के प्रदर्शन बहुत कम हो जाने के बावजूद आज भी श्रवण-गायन के रूप में रागनी की लोकप्रियता में कोई अन्तर नहीं आया है, परन्तु जहाँ तक नवीन सर्जना का प्रश्न है, रागनी का विकास शिथिल-सा हो गया है।

यहाँ एक विसंगति का उल्लेख हम अनिवार्य समझते हैं। यदि हरियाणा में रचित समकालीन (विशेषकर 1980 तक के) खड़ी बोली साहित्य की मूल चेतना का परीक्षण किया जाए तो स्पष्ट हो जाता है कि इसमें एक निर्वैयक्तिक आधुनिकता, राष्ट्रीयता एवं अन्तर्राष्ट्रीयता तो है पर हरियाणा का मन, हरियाणा के जीवन की धड़कन यहाँ के बहुत कम उपन्यासों, कहानियों एवं कविताओं में देखी-सुनी जा सकती है। युग-सापेक्ष विकास एवं साहित्य-मानकों की रक्षा के बावजूद हरियाणा में रचित आधुनिक खड़ी बोली काव्य का हरियाणा-सापेक्ष व्यक्तित्व संदिग्ध है। उसमें हरियाणा का आंचलिक रंग लगभग अनुपस्थित है। दूसरी ओर हरियाणावी में रचा गया रागनी-काव्य जन से तो जुड़ा है पर हिंदी काव्य-यात्रा के अधुनातन सोपानों के साथ प्रायः नहीं जुड़ पाया है। युग-बोध की अभिव्यक्ति एवं शिल्प के नए मानकों के प्रति वह सचेत

नहीं है। इस विडम्बना का कारण इस काव्य का अनेक रूढ़ियों से घिर जाना है। सांग के साथ इसकी सम्बद्धता से इसे असीम लोकप्रियता तो मिली है पर सांग की कुछ अपरिष्कृत प्रस्तुतियों एवं कुरुचिपूर्ण रूढ़ियों ने रागनी के 'टेक्स्ट' को उपेक्षा एवं वितृष्णा का शिकार भी बनाया है। उदाहरणार्थ करुणा अथवा शृंगार -- सभी संवेदनाओं की समान रूप से 'तखत-तोड़' नाच के साथ प्रस्तुति रागनी के 'पाठ' को हास्यास्पद बना देती है। इसी प्रकार लगभग 250 वर्षों से चले आ रहे सांगों के एक-से कथानकों के ग्रहण ने रागनी के कथ्य को सीमित किया है।

रागनी के कथ्य के शैथिल्य का और भी कारण है। रागनी की मौखिक उपस्थिति के कारण रचनाकारों लगता रहा है उनकी पहचान और मौलिकता का आधार रागनी की समापक कली में लेखक की 'छाप' अनिवार्यता होनी चाहिए। यह रूढ़ि बहुत लम्बे समय से चली आ रही है लेकिन इस रूढ़ि के कारण अनेक बार रागनियों में कथा-प्रसंग से भटकाव एवं भर्ती के पदों का आगमन हुआ है।

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर कहा जा सकता है कि यह एक विडम्बना ही है कि न तो हरियाणा के खड़ी बोली के रचनाकार लखमीचन्द जैसे श्रेष्ठ कवि की परम्परा से कुछ अधिक ग्रहण कर सके और न समकालीन रागनी काव्य खड़ी बोली गीत और नवगीत और छंदमुक्त कविता की आधुनिकता को अर्जित कर सका। हमारी दृष्टि में इन दोनों धाराओं का अन्तःसंक्रमण हरियाणवी काव्य के स्वास्थ्य के लिए अनिवार्य है, न तो रागनी को हिकारत से देखने से और न ही आत्ममुग्धता एवं अहंकार-ग्रस्तता के कारण उससे कटे रहने से हरियाणा में रचे काव्य का सही व्यक्तित्व बन पाएगा। यों भी इस अहंकार का कोई ठोस आधार नहीं है, क्योंकि समस्त आधुनिकता को अपनाकर भी हरियाणा का खड़ी बोली का एक भी रचनाकार लखमीचन्द से श्रेष्ठ काव्य की रचना नहीं कर पाया है, किन्तु इस उपलब्धि के कारण रागनी रचयिताओं को भी गर्वित होने का प्रमाण-पत्र नहीं मिल जाता, क्योंकि लखमीचन्द के बाद श्रेष्ठ रागनी की सरस्वती भी क्रमशः लुप्त होती चली गई है। उसके युगानुरूप परिष्कार की, जन से जुड़ कर भी युगबोध की प्रखरता को अपनाने की, यन्त्र-युग के कोलाहल को गीत में ढालने की जो आवश्यकता थी, उसको हरियाणवी के नए रचनाकारों ने पूर्णतः उपेक्षित किया है।

अंततः एक प्रत्याशा के साथ हम इस लेख का समापन करना चाहेंगे। क्या 'ग्राम' के 'विश्वग्राम' बनने की प्रक्रिया के बीच, उसके खेतों में गाँव को ही निर्वासित करने देने वाली 'सेज़' बिछ जाने के बावजूद, बाज़ार और बाज़ारी ताकतों के सहयोगी मीडिया की चिल्ल-पों के बीच और भाँड-भड़ैती के शोर-शराबे के बीच भी कोई ऐसी 'चकित-चल' करने वाली प्रतिभा उभर कर आएगी, जो हरियाणवी काव्य को 'नए फूल-फल' देगी? कामना करते हैं कि ऐसा हो सके। हमें इसी की प्रतीक्षा है।

